हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला—५

# सामाजिक पाषण

( रूसो कृत सोशल कन्ट्रैक्ट का अनुवाद )

अनुवादक

डा० बूलचन्द, आई ए एस.

प्रकाशन ब्यूरो

उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

## प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप मे हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो के विशेष उत्तरदायित्व मे किसी प्रकार की कमी नही आती। हमे सविधान मे निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों मे व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी मे वाङ्मय के सभी अवयवो पर प्रमाणित ग्रन्थ हो और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थो के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता मे एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गई है। यह समिति विगत वर्षों मे हिन्दी के ग्रन्थो को पुरस्कृत करके साहित्यकारो का उत्साह बढाती रही है और अब उसने पुस्तक-प्रणयन का कार्य आरभ किया है।

समिति ने वाङ्मय के सभी अगो के सबध मे पुस्तको का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ मे लिया है। इसके लिए एक पचवर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों मे ३०० पुस्तको का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्राय वे सब विषय ले लिये गये है जिन पर ससार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य मे ग्रन्थ प्राप्त है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमे से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयो को दी जाय जिनकी हिन्दी मे नितात कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नहीं है कि व्यवसाय के रूप मे यह कार्य हाथ मे लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भडार को परिपूर्ण करने मे उत्तर प्रदेश का शासन भी किचित् योगदान देने मे समर्थ होगा।

**भगवती शरण सिह**
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

# विषय-सूची

## पुस्तक—१



## पुस्तक—२

## पुस्तक—३

## पुस्तक—४

# पुस्तक १

# परिच्छेद १

## प्रथम पुस्तक का विषय

मनुष्य जन्मत स्वतत्र है परतु हर जगह वह बन्धनयुक्त दिखाई देता है। अनेक व्यक्ति अपने आपको अन्यो का स्वामी समझते है, परतु वे उन अन्यो की अपेक्षा अधिक पराधीन होते है। यह परिवर्तन किस प्रकार घटित हुआ, मुझे ज्ञात नही। इस परिवर्तन को न्याय-सगत कैसे बनाया जा सकता है? मुझे विश्वास है कि इस प्रश्न का समाधान मै कर सकता हूँ।

केवल बल और उसके परिणामो की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए मै यह कहूँगा कि कोई राष्ट्र, जिसे अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया जावे, अधीनता स्वीकार करके श्रेष्ठता का पात्र होता है, परतु ज्योही वह पराधीनता की बेडी को तोडने मे सक्षम हो तो उसे तोड डालने मे श्रेष्ठता का और अधिक पात्र होता है, क्योकि यदि मनुष्य अपने स्वातत्र्य को उसी अधिकार के अतर्गत प्रत्यादत्त कर लेते है जिसके अतर्गत इसे लुप्त किया था तो या तो वे उसे पुनर्ग्रहण करने मे निर्दोष है या उन्हे इससे वचित करना दोषयुक्त था। परतु सामाजिक सु-व्यवस्था एक पवित्र अधिकार होता है जो अन्य सर्व अधिकारो के आधार का कार्य करता है। अपरच यह अधिकार प्रकृति से प्राप्त नही होता, यह रूढियो पर आधारित होता है। इसलिए प्रश्न यह आता है कि यह रूढियाँ क्या वस्तु है। इसका विवेचन करने से पहिले मै यह आवश्यक समझता हूँ कि अपने उपरोक्त कथन को युक्ति द्वारा सिद्ध कर दूं।

# परिच्छेद २

## आद्य समाज

समाजो मे पूर्वतम और एकमात्र प्राकृतिक ममाज कुटुम्ब होता है परतु बच्चे अपने पिता से केवल तभी तक सम्बद्ध रहते है जब तक उन्हे अपनी परिरक्षा के लिए उम सम्बद्धता की आवश्यकता होती है। ज्योही इम आवश्यकता की ममाप्ति हो जाती है, प्राकृतिक बध लुप्त हो जाता है। बच्चे अपने पिता के आज्ञापालन मे स्वतत्र हो जाने से और पिता अपने बच्चो की चिन्ता के बधन से मुक्त हो जाने से दोनो ममानत स्वाधीन हो जाते है। यदि वे तदनतर मम्मिलित रहे तो प्राकृतिक बाध्यता के अतर्गत नही रहते, स्वेच्छा मे स्वय रहते है। कुटुम्ब केवल रूढि के आधार पर स्थापित रहता है।

उपरोक्त पारम्परिक स्वातत्र्य मनुष्य की प्रकृति का परिणाम है। मनुष्य का प्रथम मिद्धात अपने परिरक्षण की चिन्ता होता है। उमकी प्रथम चिन्ताएं वे होती है जिनका वह निज के प्रति उत्तरदायी होता है और ज्योही वह विवेक की अवस्था को प्राप्त हो जाता है अपने परिरक्षण के लिए कौन मे उपाय श्रेष्ठतम होगे उमका स्वय निर्णायक होने के कारण स्वाधीन हो जाता है।

अत कुटुम्ब ही राजनीतिक समाज का आद्य नमूना है। पिता राजक का प्रतिबिम्ब है और बच्चे प्रजा के प्रतिबिम्ब, और जन्मत ही ममग्न और स्वतन्त्र होने के कारण मब अपनी स्वतत्रता को केवल अपने लाभार्थ ही अन्यक्रामण करते है। अतर केवल इतना है कि कुटुम्ब मे अपने बच्चो का प्रेम पिता को बच्चो के प्रति उठाई हुई तकलीफो का प्रतिशोधन होता है, राज्य मे शासन का आनन्द राजक के प्रेम के अभाव की पूर्ति करता है।

ग्रोशस (Grotius) इसे अस्वीकार करता है कि मब मानुषिक शासन शासितो के हितार्थ ही स्थापित होते है। वह दासत्व का उदाहरण देता है। उमकी चातुरीपूर्ण तर्क विधि है, सदा तथ्यो मे अधिकारो को प्रतिष्ठापित करना। इससे अधिक

न्यायसगत तर्क-शैलियाँ तो अवश्य है परन्तु एकाधिकारियो का इससे अधिक अनुमोदन करनेवाली कोई नही ।

इसलिए ग्रोशस (Grotius) के कथनानुसार यह सदिग्ध रहता है कि मानव जाति सौ मनुष्यो की सम्पत्ति है अथवा सौ मनुष्य मानव जाति की सम्पत्ति है, और स्वय वह अपनी पुस्तक मे सर्वत्र प्रथम मत की ओर ही प्रवृत्त होता है। यही भाव हॉब्स (Hobbes) के है। इस प्रकार मानव जाति पशु-झुड की तरह खण्डो मे विभाजित कर दी गयी है कि प्रत्येक खण्ड का एक स्वामी हो जो भक्षणार्थ इसकी प्रतिरक्षा करे ।[1]

यथा चरवाहा गुणो मे पशु-झुड मे श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार जनसमूह के चरवाहे राजकगण भी गुणो मे लोगो से श्रेष्ठ होते है। फिलो के विवरणानुसार सम्राट् कैली-गुला ने इसी प्रकार तर्क किया था और वह इस सादृश्य से इस अनुमान पर पहुँचा कि राजा ईश्वर होता है और प्रजा पशुवत् प्राणी ।

ग्रोशस और हॉब्स का तर्क भी कैलीगुला के तर्क के समान है। इन सबके पूर्व ऐरिस्टॉटल ( Aristotle ) ने भी कहा था कि प्रकृति के सब लोग समान नही है, कुछ जन्मत ही दास होते है और कुछ शासक ।

ऐरिस्टॉटल का कथन युक्तियुक्त था परन्तु उसने अपने परिणाम को कारण समझने की भूल की। प्रत्येक मनुष्य जो दासत्व मे पैदा होता है दासत्वार्थ ही पैदा होता है यह स्वत सिद्ध तत्व है। अपने बधनो मे दास लोग सब कुछ खो देते है, बधनो से छूटने की अभिलाषा तक वे अपने दासत्व मे स्निग्ध हो जाते है जैसे यूलीसिस के साथी अपनी पशुवृत्ति से स्निग्ध हो गये थे। इसलिए यदि कोई स्वभाव से ही दास होता है तो इसका कारण केवल यह है कि वह प्रकृति के प्रतिकूल दास बना दिया गया था। सर्वप्रथम दास बल द्वारा बनाये गये थे, निज भय के कारण वे दासत्व मे स्थिर रह गये ।

आदिम राजा और सम्राट नोह के सम्बन्ध मे जो विश्व का विभाजन करनेवाले शनिग्रह के बच्चो के समान तीन महान अधिपो (जिन्हे इनका ऐकात्म्य समझा जाता है) का पिता था, मैंने कुछ नही कहा है। मुझे आशा है कि मेरे सयम से लोगो को सतोष

१ 'पब्लिक ला' सार्वजनिक विधान के, क्षेत्र में विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान बहुधा प्राचीन कुव्यवहारो के इतिहास मात्र है और इनका कष्टसाध्य अध्ययन एक दुराग्रह है। ग्रोशस ( Grotius ) ने यह यथार्थ ही कहा है। (१७८२ के सस्करण में) ।

होगा, क्योंकि इनमे से किसी एक, सम्भवत सबसे जेठे, अधिप का वंशज होने के कारण, कौन कह सकता है कि अधिकारो की विवेचना के परिणामस्वरूप, मैं ही मानवजाति का न्यायानुकूल राजा सिद्ध न हो जाऊँ ? परंतु कुछ भी हो, यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि आदिम विश्व का सम्राट उसी प्रकार था जिस प्रकार रॉबिनसन अकेला निवासी होने के कारण अपने द्वीप का सम्राट था, और इस साम्राज्य का सबसे स्निग्ध अंग यह था कि सम्राट् को किसी विद्रोह, युद्ध अथवा षड्यन्त्रो द्वारा अपना राज्यासन खोने का भय ही नही था ।

# परिच्छेद ३

## शक्तिशालीतम का अधिकार

सबसे शक्तिशाली मनुष्य भी इतना शक्तिशाली नही होता कि अपनी शक्ति को अधिकार में और दूसरो की आज्ञानुसारिता को कर्तव्य में परिवर्तित किये बिना सदा स्वामी रह सके। इसलिए शक्तिशालीतम का अधिकार, प्रत्यक्षत विपरीत लक्षणा होते हुए भी, यथार्थ मे सिद्धान्त पर स्थापित है। परतु क्या कोई इस शब्द का विवेचन नही करेगा ? बल एक भौतिक शक्ति है। इसके फलस्वरूप क्या शील उत्पन्न हो सकता है, मुझे स्पष्ट नही। बल को अनुनमन करना एक लाचारी क्रिया होती है, इच्छित क्रिया नही हो सकती, अधिक से अधिक यह एक चतुराई की क्रिया हो सकती है। परन्तु क्या किसी अवस्था मे यह कर्तव्य भी माना जा सकता है ?

इस मिथ्या अधिकार को तनिक कल्पित भी कर ले तो इससे तर्कहीन प्रलाप के अतिरिक्त कुछ सिद्ध नही होता, क्योकि यदि बल में अधिकार निहित हो तो परिणाम कारण के अनुरूप बदल जायगा, और जो बल पहले बल को पराजित कर देगा वह उसके अधिकारो का भी उत्तरवर्ती हो जायगा। ज्योही मनुष्य आत्महानि के भय से सुरक्षित हो अवज्ञा कर सकता है, उसे न्यायपूर्वक ऐसा करने का अधिकार होगा, और चूंकि शक्तिशालीतम मनुष्य सदा साधिकार होता है इसलिए व्यक्ति को स्वय शक्तिशालीतम बनने के लिए ही क्रियाशील होना चाहिये। परतु यह किस प्रकार का अधिकार होगा जो बल के क्षीण होते ही समाप्त हो जाय। अपरच, यदि आज्ञा-पालन बल से ही आवश्यक है तो आज्ञापालन के कर्तव्य का प्रयोजन ही क्या हुआ, और यदि मनुष्यो को आज्ञापालन को बाध्य करना नही है तो कर्तव्यता का अंत हो जायगा। उपरोक्त से स्पष्ट है कि शब्द-बल से युक्त अधिकार से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता, वह सर्वथा निरर्थक है।

विद्यमान शक्तियों का आज्ञानुसरण करो। यदि इसका यह अर्थ हो कि बल का अनुगमन करो तो उपदेश उचित है परतु व्यर्थ, क्योकि इसका कभी उल्लघन होने-वाला ही नहीं है। मैं यह मानता हूँ कि सर्वशक्ति ईश्वर प्रदत्त होती है परतु सब व्याधियाँ भी तो वही से आती है। क्या इसका यह अर्थ है कि चिकित्सक को बुलाना वर्जित होगा ? यदि कोई लुटेरा एक घने वन मे मुझ पर अकस्मात् आक्रमण करे तो मुझे अपना बटुआ बाध्य होकर तो उसे देना ही होगा, परतु क्या यह मेरा नैतिक कर्तव्य भी है कि जब बटुए को छिपाना मेरे लिए सम्भाव्य हो तो भी मैं उसे लुटेरे के सुपुर्द कर दूँ, क्योकि अन्त मे जो उसके पास तमचा है, वह अधिक बल का द्योतक है।

*उपरोक्त से यह सिद्ध है कि बल से अधिकार उत्पन्न नही हो जाता, और न्याय-*युक्त शक्तियो के अतिरिक्त हमें किसी का आज्ञानुकरण बाध्य नही है। इस प्रकार मेरा आरम्भिक प्रश्न निरन्तर पुन प्रस्तावित होता है।

# परिच्छेद ४

## दासत्व

क्योकि किसी मनुष्य का अपने सहचरो पर किसी प्रकार का प्राकृतिक प्रभुत्व नही होना और क्योकि बल अधिकार का श्रोत नही होता, इसलिए रूढ़ियाँ ही मनष्य मे समस्त वैध प्रभुत्व का आधार होती है।

ग्रोशस कहता है कि यदि एक व्यक्ति अपने स्वातत्र्य को अन्यक्रामित करके किसी स्वामी का दास बन सकता है तो कोई समस्त राष्ट्र अपनी स्वतत्रता को अन्य-क्रामित कर किसी राजा की प्रजा क्यो नही बन सकता। उपरोक्त वाक्य मे अनेक सदिग्ध शब्द है जिनकी व्याख्या करना आवश्यक है, परतु शब्द 'अन्यक्रामण' की ओर ही हम अपना ध्यान सीमित करेंगे। अन्यक्रामण करने का अर्थ है देना अथवा बेचना। परन्तु जो मनुष्य किसी दूसरे का दास बनता है वह अपने आपको दूसरे को देता नही है, केवल अपने निर्वाह के हेतु अपने आपको दूसरे को विक्रय कर देता है। परतु कोई राष्ट्र अपने आपको क्यो बेचेगा ? अपनी प्रजा को निर्वाह-साधन उपलब्ध करने के स्थान पर राजा स्वय निर्वाह के साधन प्रजा से लेता है, और रेबीलेज के कथनानुसार राजा किसी थोडे अश पर निर्वाह नही करता। तो क्या प्रजा अपने शरीर को इस शर्त पर पराधीन करती है कि उनकी सम्पत्ति भी उनसे ले ली जायगी ? तो उनके पास परिरक्षित रखने को क्या रह जायगा, यह समझ में नही आता।

कुछ लोग यह कहेगे कि स्वेच्छाचारी राजा अपनी प्रजा को सामाजिक शाति उपलब्ध करता है। हो सकता है, परतु उससे उन्हे क्या लाभ, यदि उसकी लालसा के अतर्गत उन पर आरोपित होनेवाले युद्ध और उसके अपने अतृप्य लोभ और उसके प्रशासन के प्रबाधन उन्हें अपने पारस्परिक सघर्षों से भी अधिक दिक करनेवाले हो ? उस प्रशाति से क्या लाभ, यदि यह प्रशाति ही उनके दुखो का एक कारण बन जाय ? मनुष्य कारावास मे भी प्रशांत रहता है, परतु क्या उसे वहाँ आनद होता है ? साद-

क्लोप्स की गुफा में कारावासित यूनानी भी प्रशांति से निवास करते थे जब तक उनकी भक्षण होने की बारी नही आती थी ।

यह तर्क करना कि मनुष्य अपने आपको, कुछ प्राप्त किये बिना ही दे देता है, बिलकुल हास्यास्पद और अविचारणीय है । उपरोक्त क्रिया अवैधानिक और अनुचित है । केवल इस कारण कि जो इस क्रिया को करता है उसकी बुद्धि ठीक नही हो सकती । एक समस्त राष्ट्र के लिए इस प्रकार की धारणा करने का अर्थ यह है कि उन्मत्तो का राष्ट्र अनुमानिक किया जाय, और उन्मत्तता से अधिकार प्रदान नही किये जा सकते ।

यदि यह मान भी लिया जाय कि कोई व्यक्ति अपने आपको अन्यक्रामित कर सकता है, तो वह अपने बच्चो को तो अन्यक्रामित नही कर सकता । वे जन्मत स्वतत्र मनुष्य होते है, उनका स्वातत्र्य उनका निजी है और सिवाय उनके किसी अन्य को उसे अन्य-क्रामित करने का अधिकार नही है । उनके विवेकावस्था को प्राप्त होने से पहिले पिता उनके परिरक्षण और कल्याण के हेतु उनके नाम से शर्तें निर्दिष्ट कर सकता है परतु उन्हे अटल रूप में एव बिना शर्त के किसी की अधीनता मे नही दे सकता, क्योकि इस प्रकार का देना प्रकृति के प्रयोजन के प्रतिकूल होगा और पितृत्व के अधिकारो का अतिरेक होगा । इसलिए स्वेच्छाचारी शासन को न्यायसगत बनने के लिए यह आव-श्यक है कि प्रत्येक पीढी मे लोग इसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का अधिकार प्रयुक्त करे । परतु उस दशा मे शासन स्वेच्छाचारी रहेगा ही नही ।

अपने स्वातत्र्य के परित्याजन का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति अपने मनुष्यत्व और मानुषिक अधिकारो और कर्तव्यो का परित्याजन कर रहा है । जो प्रत्येक वस्तु का परित्याजन करता है, उस व्यक्ति के लिए कोई क्षतिपूर्ति ही सम्भव नही है । इस प्रकार का परित्याजन मनुष्य की प्रकृति के असगत है, क्योकि प्रेरणा से समस्त स्वतत्रता को विलग करने का अर्थ यह है कि क्रियाओ को नीतिविहीन बना दिया जाय । सक्षेप मे, ऐसी रूढ़ि जो एक ओर सम्पूर्ण शक्ति और दूसरी ओर असीमित अनुशासन को निर्दिष्ट करती है, निरर्थक और असगत होती है । क्या यह स्पष्ट नही है कि किसी ऐसे मनुष्य के प्रति जिससे हमें सब कुछ लेने का अधिकार है, हमारे कोई कर्तव्य नही होते, और क्या केवल यही एक दशा जिसमे न समानता और न आदान-प्रदान निहित है उस क्रिया को प्रवृत्तिहीन नही बना देती ? क्योंकि मेरे दास का मेरे प्रति क्या अधिकार हो सकता है, जब सब कुछ जो उसके पास है वह मेरा ही हो । उससे समस्त अधिकार यथार्थ मे मेरे ही होने के कारण, मेरे अधिकार मेरे अपने ही विरुद्ध एक निरर्थक-सा वाक्यांश हो जाता है ।

ग्रोशस और अन्य लेखक दासत्व के मिथ्या अधिकार के एक अन्य स्रोत का युद्ध में निरूपण करते हैं। उनके अनुसार, विजेता को विजित के वध का अधिकार होने से, विजित अपनी स्वतन्त्रता विक्रय करके जीवन क्रय कर सकता है, यह रीति दोनों पक्षों को लाभप्रद होने के कारण बिल्कुल न्यायसंगत है।

परन्तु यह स्पष्ट है कि विजित के वध का मिथ्याधिकार किसी प्रकार भी युद्धावस्था का परिणाम नहीं हो सकता। अपनी आद्य स्वतत्र दशा में रहते हुए मनुष्यों के पारस्परिक सबध इतनी पर्याप्त मात्रा मे स्थायी न होने से कि उनसे शाति अथवा युद्ध की अवस्था की धारणा हो सके, मनुष्य प्रकृति से शत्रु नही हो सकता। यथार्थ मे युद्ध वस्तुओ के सम्बन्ध का परिणाम है, मनुष्यो के सम्बन्ध का नही, और क्योकि युद्धावस्था साधारण वैयक्तिक सम्बन्धो से उत्पन्न नही हो सकती बल्कि वास्तविक सम्बन्धो से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वैयक्तिक युद्ध अर्थात् मनुष्य और मनुष्य के बीच युद्ध, प्राकृतिक अवस्था मे विद्यमान नही हो सका जहाँ कि स्थापित स्वामित्व ही नही है, और न ही यह सामाजिक अवस्था में विद्यमान हो सकता है जहाँ समस्त वस्तुएँ वैधानिक प्रभुत्व के अधीन होती हैं।

वैयक्तिक सयोधन, द्वन्द्व और मुठभेड यह ऐसी क्रियाएँ है जो युद्धावस्था को निर्मित नही करती और फ्रास के राजा लूई नवम के प्रशासन द्वारा प्राधिकृत वैयक्तिक युद्ध जिनका अत "ईश्वरीय शाति" द्वारा हुआ था, सामततत्र के कुपरिणाम मात्र थे। यह हास्यास्पद तन्त्र प्राकृतिक अधिकार के सिद्धातो और स्वस्थ प्रशासन के सर्वथा प्रतिकूल होता है।

युद्ध व्यक्ति और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध नही होता परतु राज्य और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध होता है, जिसमे व्यक्ति तो दैवयोग से ही शत्रु बन जाते है, मनुष्य होने के नाते नही, ना ही नागरिक होने के नाते[1] परतु सैनिको के रूप में, स्वदेश

१ रोम के लोगों ने, जो युद्ध के अधिकारो का विश्व के किसी अन्य राष्ट्र की अपेक्षा अधिक उपबोध और आदर करते थे, इस विषय में अपने विवेक का इस सीमा तक पालन किया, कि किसी नागरिक को स्वयंसेवक के रूप में युद्ध करने की आज्ञा तब तक नहीं दी जाती थी जबतक वह शत्रु के विरुद्ध अभिव्यक्त रूप से भरती न हो और किसी विशिष्ट शत्रु के नाम का उल्लेख न करें। जब पॉपीलियस के नेतृत्व का एक दस्ता जिसमें कैटो का पुत्र सबसे प्रथम सम्मिलित हुआ, पुनर्संगठन होने के कारण कैटो के पिता पॉपीलियस ने यह लिखा कि यदि वह अपने पुत्र को दस्ते में सम्मिलित रखने को तैयार हो तो पुत्र

के सदस्यों के रूप मे नही, इसके रक्षको के रूप मे। सक्षेप में किसी एक राज्य के दूसरे राज्य ही शत्रु हो सकते हैं, वैयक्तिक मनुष्य नही, क्योकि भिन्न प्रकार की वस्तुओ में कोई वास्तविक सबध स्थापित करना असम्भव होता है।

उपरोक्त सिद्धान्त सब युगो के स्थापित सिद्धांतो और सब सस्कृत देशो के अचल व्यवहार के निरतर अनुकूल है। युद्ध का उद्घोषण शक्तियो के प्रति चेतावनी का द्योतक न होकर प्रजा के प्रति होता है। वह विदेशी, चाहे राजा हो अथवा कोई वैयक्तिक मनुष्य अथवा राष्ट्र, जो राजा के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित किये बिना प्रजा को लूटे, मारे, अथवा बदी करे, शत्रु नही बल्कि लुटेरा कहलाता है। उद्घोषित युद्ध तक मे न्यायी राजक शत्रु देश मे राज्य से युक्त समस्त वस्तुओ को धारण करता है, परतु व्यक्तियो की देह और सम्पत्ति का आदर करता है। वह उन अधिकारो का आदर करता है जिस पर उसके अपने अधिकार आधारित होते है। युद्ध का उद्देश्य शत्रु-राज्य का विनाश होने के कारण, हमारा यह अधिकार है कि उस शत्रु-राज्य के रक्षको का जब तक उनके हाथ मे हथियार है, वध करते रहे, परतु ज्योही वे अपने हथियारो को छोड देते हैं और आत्मसमर्पण कर देते है और शत्रु अथवा शत्रु का साधन नही रहते, तो वे सामान्य मनुष्य हो जाते है और उनके जीवन पर किसी का अधिकार नही रहता। कई बार राज्य के किसी सदस्य को मारे बिना ही राज्य को विनष्ट करना सम्भव होता है। परतु युद्ध कोई ऐसे अधिकार प्रदान नही करता जो इसकी उद्देश्य प्राप्ति के लिए आवश्यक न हो। उपरोक्त सिद्धात ग्रोशस के नही है। यह कवियो के कथन पर आधारित नही है, यह तो वस्तुओ की स्थिति से प्राप्ति है और युक्ति पर आधारित है।

के लिए यह आवश्यक होगा कि वह अब नयी सैनिक शपथ ले क्योंकि पहली शपथ अभिशून्य हो जाने के कारण उसे शत्रु के विरुद्ध लड़ाई करने का अधिकार नहीं रह गया है और कैटो ने अपने पुत्र को लिखा कि बिना एक नयी शपथ ग्रहण किये उसे युद्धमें सम्मिलित नहीं होना चाहिए। मै यह जानता हूँ कि मेरे विरुद्ध क्लूजियम का घेरा और कुछ और विशिष्ट उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु मैं तो नियमों और रूढ़ियों का उल्लेख करता हूँ। किसी राष्ट्र ने भी अपने नियमों का उल्लंघन इतना कम नहीं किया है जितना कि रोम के लोगों ने, और किसी अन्य राष्ट्र के नियम इतने प्रशंसनीय नहीं हुए हैं। (१७८२ के संस्करण में)

विजय के अधिकार का शक्तिशालीतम के नियम के अतिरिक्त कोई और आधार नही होता। यदि युद्ध विजेता को विजित का वध करने का अधिकार नहीं देता, तो यह अधिकार जो उसे प्राप्त ही नही है, उन्हे दास बनाने के अधिकार का आधार नही हो सकता। हमे किसी शत्रु के मारने का अधिकार तभी प्राप्त होता है, जब उसे दास बनाना असम्भव सिद्ध हो, तो दास बनाने के अधिकार को मारने के अधिकार से आकर्षित नही माना जा सकता। इसलिए यह अन्यायपूर्ण व्यापार है कि किसी व्यक्ति को अपना जीवन, जिस पर विजेता को कोई अधिकार ही नही है, अपनी स्वतन्त्रता खोकर क्रय करना पडे। जीवन और मरण के अधिकार को दासत्व के अधिकार पर अवलम्बित करने और दासत्व के अधिकार को जीवन और मरण पर अवलम्बित करने मे, क्या यह स्पष्ट नही है कि, हम एक दुष्ट चक्र मे तर्क कर रहे है ?

यदि हम सबको मारने के इस भयानक अधिकार को मान भी ले तो मेरा यह तर्क है कि युद्ध मे बनाये हुए दास अथवा विजित राष्ट्र का स्वामी के प्रति कोई कर्तव्य नही होता, अतिरिक्त इसके कि वह उसका आज्ञापालन करे, जब तक ऐसा करने को बाध्य हो। जीवन के समान वस्तु लेकर उसका जीवन प्रदान करते हुए विजेता दास पर कोई कृपा नही करता है, उसका बेकार वध करने के बजाय वह अपने लाभ के लिए उसके व्यक्तित्व को विनष्ट कर देता है। इसलिए शासित द्वारा प्रदत्त प्रभुत्व के अतिरिक्त उस पर कोई अधिकार प्राप्त न कर सकने से उन दोनो मे पूर्ववत् युद्ध की अवस्था निर्वाहित रहती है, यहाँ तक कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी इसी अवस्था का फल है और युद्ध के अधिकारो के प्रयोग मे यह अनुमान नही होता है कि उनमे शाति स्थापन का कोई बधक हुआ। उन्होने केवल एक रूढि स्थापित की है जो वास्तव में युद्धावस्था की समाप्ति की अपेक्षा इसके अविराम का ही द्योतक है।

इस प्रकार, हम वस्तुओ का किसी प्रकार अवलोकन करे, यह सिद्ध है कि दासत्व का अधिकार विधिहीन है, न केवल इसलिए कि यह अन्यायपूर्ण है, बल्कि इसलिए भी कि यह हास्यास्पद और निरर्थक है। यह दोनो शब्द—दासत्व और अधिकार असगत हैं और परस्पर मे अपवर्जी है। निम्नाकित कथन, चाहे वह किसी एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को अथवा किसी मनुष्य द्वारा किसी राष्ट्र को सम्बोधित किया जाय, निरतर सामान्य रूप से मूर्खतापूर्ण ही विदित होगा, "मै तुमसे बधक करता हूँ जो सर्वथा तुमको क्षति और मुझे लाभदायक होगा, और मै इस बधन को तब तक मानूँगा जबतक मै चाहूँगा परतु तुम्हे इसे मेरी इच्छापर्यत मानना पडेगा।"

# परिच्छेद ५

## क्यों एक सर्वप्रथम प्रसभा को मानना आवश्यक है ?

यदि मैं उस सबको, जिसका अभी तक खडन किया है, मान भी लूं, तो भी एकाधिकार का अनुमोदन करनेवालो की युक्ति सिद्ध नही होती। जनसमूह को पराजित करने और समाज पर शासन करने मे सदा एक महान अन्तर रहता है। जब अलग-अलग मनुष्य, चाहे उनकी सख्या कितनी ही बडी हो, एक दूसरे के अनन्तर किसी एक व्यक्ति के अधीन होते है, तो मेरी दृष्टि मे वह स्वामी और दास की, न कि राष्ट्र और उसके राजक की, अवस्था होती है, उन द्वारा, यदि आप ऐसा कहना चाहे तो समुदाय का निर्माण होता है, सस्था का नही, क्योकि उनकी न सामान्य सम्पत्ति होती है और न कोई राजनीतिक निकाय। यदि ऐसा मनुष्य आधे विश्व को भी अपने अधीन कर ले तो भी वह एक व्यक्ति ही रहता है। अन्य लोगो के हित से भिन्न उसका हित वैयक्तिक ही रहता है। यदि वह मनुष्य मर जाता है तो उसके बाद उसका साम्राज्य अग्नि से प्रज्वलित ओक की तरह बिखर जाता है और लुप्त हो जाता है।

ग्रोशस का कथन है कि राष्ट्र अपने आपको राजा के सुपुर्द कर सकता है अर्थात् ग्रोशस के मतानुसार, निज को राजा के सुपुर्द करने के पूर्व ही राष्ट्र राष्ट्रपद को प्राप्त हुआ होता है। सुपुर्दगी की क्रिया एक सामाजिक क्रिया है जिसे न्यायसगत बनाने के लिए सर्वसाधारण का सकल्प आवश्यक है। इसलिए जिस क्रिया द्वारा राष्ट्र राजा को निर्वाचित करता है उसका परिनिरीक्षण करने से पहले, उस क्रिया का परिनिरीक्षण करना उचित होगा, जिसके द्वारा राष्ट्र राष्ट्र बना होगा, क्योकि दूसरी क्रिया से पूर्वगामी होने के कारण यही वह क्रिया है जो समाज का वास्तविक आधार है।

वास्तव मे यदि कोई पूर्वगत प्रसभा न हुई हो तो (सर्वसम्मत निर्वाचन की अवस्था के अतिरिक्त) अल्पसख्यक पक्षो को बहुसख्या के निर्णय को स्वीकार करना क्योकर

बाध्य होगा। उन सैकडो का जो किसी शासक को चाहते हैं उन दसों की ओर से जो शासन को नही चाहते, मत निर्दिष्ट करने का क्या अधिकार होगा ? मतो की अनेकता का सिद्धात स्वत. ही रूढ़ि पर आधारित है और परिकल्पित करता है कि कम से कम एक बार पहले सर्वसम्मति हुई होगी।

# परिच्छेद ६

## सामाजिक बन्ध

मै कल्पित करता हूँ कि मनुष्य उस प्रक्रम पर पहुँच चुके है जहाँ प्राकृतिक अवस्था मे परिरक्षण को सकट मे डालनेवाली बाधाएँ उनके उम ओज को पराजित कर चुकी है जो प्रत्येक व्यक्ति उस अवस्था में अपने आपको सधारण करने के लिए कर मकता था। उपरोक्त दशा मे यह आद्य स्थिति निर्वाहित नही रह सकती, और मानव जाति के अपने जीवन की रीति को परिवर्तित किये बिना विनष्ट हो जाने की आशका उत्पन्न हो जाती है।

क्योकि मनुष्य के लिए किसी निरतर नये ओज को उत्पादित करना असम्भव होता है, परतु विद्यमान सामर्थ्यों को सगठित और निर्दिष्ट करना ही सम्भाव्य है, इसलिए वे अपने परिरक्षण के लिए अभिसमूहित होकर सामर्थ्यों का एक योग स्थापित करने के अतिरिक्त और कोई साधन नही अपना सकते। ऐसा करने मे अविभक्त प्रेरक शक्ति तथा सम्मिलित प्रक्रिया द्वारा बाधाओ को विजित करने की सम्भावना होती है।

सामर्थ्यों का यह योग अनेक के सम्मिलन से ही उत्पादित हो सकता है, परतु प्रत्येक मनुष्य का बल और स्वातत्र्य उसके अपने परिरक्षण का मुख्य साधन होने के कारण वह इस बल और स्वातत्र्य को, अपनी निजी क्षति किये बिना तथा अपने प्रति जो उसे अवधान करना आवश्यक है उसकी अपेक्षा किये बिना, कैसे बधक कर सकता है? मेरे विषय के सदर्भ में इस कठिनाई को निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है कि "साहचर्य का ऐसा रूप निकाला जाय जो प्रत्येक सहचारी की देह और सम्पत्ति का परिरक्षण और सरक्षण समुदाय की सम्पूर्ण सामर्थ्य द्वारा कर सके, और जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति समस्त दूसरो से एकीभूत होकर भी केवल अपनी ही आज्ञा का अनुपालन करे और पूर्ववत् स्वतत्र रह सके।" यह वह आधारभूत समस्या है जिसका सामाजिक पाषण समाधान उपस्कृत करता है।

इस सामाजिक पाषण के खंड क्रिया के स्वभाव के अन्तर्गत इस प्रकार निश्चित होते हैं कि यदि उनमे तनिक भी सम्परिवर्तन हो जाय तो वे निरर्थक और प्रभावरहित हो जाते हैं, जिसका अर्थ है कि यद्यपि वे कभी यथारूप उच्चारित नही हुए हे तो भी वे सर्वत्र समान है और सर्वत्र चुपचाप स्वीकृत और मानित होते हैं, जब तक कि सामाजिक बध अतिक्रमित हो जाने के परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य अपने आद्य अधिकारो और उस प्राकृतिक स्वातत्र्य को पुन प्राप्त नही कर लेता जिसका परित्याग उसने रूढिगत स्वतत्रता को अवाप्त करने के लिये किया था।

यदि ठीक अर्थ समझ लिया जाय तो इन सब खडो को केवल एक वाक्याश में प्रदर्शित किया जा सकता है और वह यह है कि प्रत्येक सहचारी समस्त समुदाय को अपने समस्त अधिकार पूर्णरूपेण अन्यक्रामित कर देता है क्योकि प्रथमत प्रत्येक स्वत को पूर्णरूपेण अनुवर्तित कर देता है इसलिये प्रतिबध सबके लिये समान होते हैं, तथा तदनतर चूंकि प्रतिबध सबके लिये समान है इसलिये कोई भी उन प्रतिबधो को अन्यो के प्रति कष्टकारक बनाने मे अभिरुचि नही रखता।

अपरच, अन्यक्रामण पूर्णतया होने के कारण सम्मिलन भी सपूर्णतया होता है और कोई सहचारी पृथक् अधिकार उपस्थित नही कर सकता। क्योकि यदि व्यक्तियो के पृथक् वैयक्तिक अधिकार रहने दिये जायँ तो किसी ऐसे सर्वनिष्ट वरिष्टाधिकारी के अभाव मे जो किसी व्यक्ति विशेष और साधारण जनता के बीच निर्णय करने की शक्ति रखता हो, प्रत्येक व्यक्ति ही किसी न किसी बिन्दु पर अपना निर्णायक होता और सब अधिकारो पर निर्णायक होने का मिथ्या दम्भ कर सकता। परिणाम यह होता कि प्राकृतिक अवस्था निर्वाहित रहती और साहचर्य या तो अत्याचारी हो जाता या निरर्थक हो जाता।

सक्षेप मे, प्रत्येक के अपने आपको सबको देने का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक अपने आपको किसी को नही देता। और चूकि ऐसा कोई सहचारी नही रहता जिस पर हम वही अधिकार अवाप्त नही कर लेते, जो हम उसको अपने आप पर देने को राजी होते है, इसलिये हम जो खोते है उसी के समान प्राप्ति कर लेते है और अपनी सम्पत्ति को सरक्षित रखने की अतिरिक्त शक्ति अवाप्त कर लेते है।

इसलिये यदि हम सामाजिक पाषण के सार को उसके उपागो से पृथक् कर दे तो हम देखेगे कि उसे निम्न शब्दो मे प्रदर्शित किया जा सकता है "हममें से प्रत्येक अपनी देह और अपनी समस्त शक्ति को सर्वसाधारण प्रेरणा के वरिष्ट निर्देशन के अन्तर्गत सामान्य में डाल देता है और उसके बदले में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अभाज्य अग के रूप मे प्राप्त कर लेते है।"

तुरन्त ही सब पाषित होनेवाले व्यक्तियो को अलग अलग व्यक्तित्व के स्थान पर इस साहचर्य क्रिया द्वारा एक नैतिक और समूह निकाय उत्पन्न हो जाती है जिसके वे सब अंग बन जाते है और इसी क्रिया द्वारा अपनी एकता, अपनी सामान्य आत्मा, अपने जीवन और अपनी प्रेरणा को प्रतिग्रहण कर लेते है। इस सार्वजनिक व्यक्तित्व का नाम जो सब वैयक्तिक सदस्यो के सम्मिलन से इस प्रकार निर्मित होता है पूर्व मे नगर[1] होता था और अब गणराज्य अथवा राजनीतिक निकाय है। निष्क्रिय रूप में इसके सदस्य इसे राज्य कहते है और सक्रिय रूप मे सार्वभौमिक सत्ता कहते है। जब इसी के समान दूसरे निकायो से इसकी उपमा दी जाती है तो इसे शक्ति कहते हैं। इसका निर्माण करनेवाले सहचारी सार्वभौमिक सत्ता मे साझी होकर सामूहिक रूप मे राष्ट्र और वैयक्तिक रूप मे नागरिक कहलाते है। बहुधा उपरोक्त शब्द परस्पर सम्भ्रमिक होते है और एक दूसरे के हेतु प्रयुक्त कर दिये जाते है। यह जानना काफी है कि जब उन्हे सुतथ्यता मे प्रयुक्त किया गया हो तो उनमे कैसे भेद किया जायगा।

१ इस शब्द का वास्तविक अर्थ आधुनिक युग में बिलकुल ही भुला दिया गया है। बहुधा नगर को शहर समझा जाता है और नागरिक को नगरवासी। लोग नहीं समझते कि शहर भवनों से बनता है परन्तु नगर नागरिको से। इसी भूल के कारण कार्थेज निवासियों को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। मैंने कभी भी किसी राजक की प्रजा को नागरिक की उपाधि दी गयी हो ऐसा नहीं पढ़ा, न तो प्राचीन समय में यह मेसेडोनिया के लिये दी गयी, न वर्तमान समय में यह अंग्रेजो को दी जाती है। चाहे वह दूसरो की अपेक्षा स्वतंत्रता का अधिक उपभोग करते हैं। केवल फ्रासीसी लोग ही शब्द नागरिक को सपरिचय प्रयुक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें इसकी सही कल्पना नहीं है। यह तथ्य उनके भाषाकोषों से स्पष्ट विदित होता है। यदि सही कल्पना होते हुए वे उस शब्द का कुप्रयोग करते तो हम उन्हें अत्यंत अभिद्रोह का दोषी ठहरा सकते थे। फ्रांसीसियों में यह शब्द गुण को व्यक्त करता है, अधिकार को नहीं। जब बोदां (Bodin) ने हमारे नागरिकों और नगरनिवासियों का विवरण देना चाहा तो उसने शब्दों के प्रयोग में एक बड़ी गलती कर दी, क्योंकि एक शब्द को दूसरे के लिए प्रयुक्त कर दिया। ऐलम्बर्ट ने इस सम्बन्ध में गलती नहीं की है और अपने लेख जेनेवा में उसने हमारे नगर में विद्यमान मनुष्यों की चार श्रेणियों (पांच कहना होगा यदि विदेशियों को भी गिना जाय) में स्पष्ट भेद किया है, जिनमें केवल दो ही गणराज्य के अंग माने जाते हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है दूसरे किसी फ्रांसीसी लेखक ने शब्द नागरिक का सही अर्थ नहीं समझा।

# परिच्छेद ७

## सार्वभौमिक सत्ताधिकारी

उपरोक्त सूत्र से स्पष्ट होगा कि साहचर्य की क्रिया में सर्वसाधारण जनता और व्यक्ति के बीच एक अन्यान्य अभियुक्ति होती है तथा प्रत्येक व्यक्ति जो इस प्रकार यथार्थ मे अपने ही मे बध करता है एक द्विपक्षीय सबध मे अभियुक्त हो जाता है, अर्थात् सार्वभौमिक सत्ता के सदस्य के रूप मे अन्य व्यक्तियो के प्रति और राज्य के सदस्य के रूप मे सार्वभौमिक सत्ताधिकारी के प्रति। इस प्रकरण मे हम व्यवहार विधि का वह सिद्धात लागू नही कर सकते कि कोई व्यक्ति अपने ही से की हुई अभियुक्ति से बद्ध नही हो सकता, क्योंकि स्वय अपने मे अभियुक्ति करने में और एक ऐसी सपूर्ण इकाई से अभियुक्ति करने मे, जिसका स्वय वह एक अश हो, बहुत अतर होता है।

साथ ही यह अवलोकन करना भी आवश्यक है कि सर्वसाधारण का सकल्प जो समस्त जनता को सार्वभौमिक सत्ता के प्रति उपरोक्त द्विपक्षीय सम्बन्ध मे, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक का निरूपण होता है, सम्बद्ध कर सकता है। किन्तु प्रतिकूल कारणवश सार्वभौमिक सत्ता को स्वत अपने ही प्रति बद्ध नही कर सकता, और परिणामस्वरूप यह राजनीतिक निकाय के स्वभाव के प्रतिकूल होगा कि सार्वभौमिक सत्ता अपने पर ही किसी ऐसे विधान को लागू करे जिसका उल्लघन कर सकना उसे वर्जित हो। चूंकि सार्वभौमिक सत्ता को केवल किसी एक ही सम्बन्ध के अतर्गत निरूपित किया जा सकता है, अत इसकी स्थिति भी उस व्यक्ति के सदृश ही होती है जो अपने साथ ही बध कर रहा हो। उपरोक्त सबसे यह स्पष्ट है कि समस्त जनपदीय निकाय पर न कोई आधारभूत नियम और न कोई सामाजिक पाषण ही बाध्य होता अथवा हो सकता है। इसका यह अर्थ नही है कि यह निकाय किसी अन्य से औचित्य के अतर्गत कोई ऐसी अभियुक्तियाँ नही कर सकता जिनका परिणाम पाषण का अल्पीकरण होगा क्योंकि

विदेशियो के सम्बन्ध में तो यह निकाय एक सामान्य जीव अर्थात् स्वय एक व्यक्ति हो जाता है।

परंतु राजनीतिक निकाय अथवा सार्वभौमिक सत्ता केवल पाषण की पवित्रता से अपना अस्तित्व प्राप्त करने के कारण, कभी अपने आपको अन्यों के प्रति किसी ऐसी अभियुक्ति द्वारा बाध्य नही कर सकता जिससे आद्य क्रिया का अल्पीकरण होता हो, उदाहरणार्थ अपने किसी क्षेत्र को अन्यक्रामिक कर देना, अथवा किसी अन्य सार्व-भौमिक सत्ताधिकारी की अधीनता स्वीकार कर लेना। जिस क्रिया के अन्तर्गत इसका अस्तित्व स्थापित होता है उस क्रिया का अतिक्रमण करने का अर्थ यह होगा कि इसका अपना अस्तित्व मिट जायगा और जो स्वय शून्य है वह किसी निश्चित वस्तु को उत्पादित नही कर सकता।

इसलिये ज्योंही जनसमुदाय किसी एक निकाय मे सगठित हो जाता है तो किसी एक सदस्य को निकाय पर आक्रमण किये बिना क्षति पहुँचाना असम्भव हो जाता है। इसी प्रकार निकाय को पहुँचाई हुई क्षति का प्रभाव उसके सदस्य अनुभव न करे यह असम्भव हो जाता है। इस प्रकार कर्तव्य और हित दोनो बध करनेवाले पक्षो को बाध्य करते है कि वे पारस्परिक सहायता प्रदान करे, और मनुष्यो को भी इस द्विपक्षीय सम्बन्ध के अन्तर्गत उन समस्त लाभो को प्राप्त करने की जो इससे उत्पन्न हो सकते है, चेष्टा करनी चाहिये।

सार्वभौमिक सत्ता केवल उन्ही व्यक्तियो द्वारा निर्मित होने के कारण जो इसके अग है, उन व्यक्तियो के हित के प्रतिकूल न कोई हित रखती है और न रख सकती है। परिणामस्वरूप सार्वभौमिक सत्ता को अपने सदस्यो के प्रति किसी प्रत्याभूति की आवश्यकता नही होती, क्योंकि यह असम्भव है कि निकाय अपने समस्त अगो को क्षति पहुँचाने की अभिलाषा करे और हम आगे चलकर देखेंगे कि सार्वभौमिक सत्ता किसी को भी व्यक्तिगत रूप मे क्षति नही पहुँचा सकती। सार्वभौमिक सत्ता सार्वभौमिक सत्ता होने के कारण ही उन समस्त गुणो से युक्त है, जो इसमे होने चाहिये।

परन्तु प्रजा की, सार्वभौमिक सत्ता के प्रति यही अवस्था नही होती, क्योंकि सामान्य हित होते हुए भी यह निश्चय नही हो सकता कि प्रजा अपनी अभियुक्तियो का पालन करेगी, जब तक कि सार्वभौमिक सत्ता प्रजा की राजभक्ति को सुनिश्चित करने के साधन स्थापित न कर दे।

यथार्थ में यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य के रूप में अपनी विशिष्ट प्रेरणा रखे जो उस सर्वधारण प्रेरणा से, जो नागरिक के रूप में उसकी होती है, प्रतिकूल अथवा विभिन्न हो। उसका वैयक्तिक हित सामान्य हित के बिल्कुल विपरीत उसे प्रेरित कर सकता है। उसका अस्तित्व पूर्ण और प्राकृतिक तौर पर स्वतत्र होने के कारण उसकी यह धारणा बन सकती है कि जो उस द्वारा सामान्य निमित्त को देय है वह एक नि शुल्क अशदान है। उसका लुप्त हो जाना दूसरो को उतना हानिकारक नही होगा जितना कि उसका शोधन उसके अपने लिये कष्टकारक होता है। जिस नैतिक व्यक्तित्व से राज्य का निर्माण होता है उसे एक काल्पनिक प्राण समझ कर वह प्रजा का कर्तव्य निभाने का इच्छुक न होते हुए भी नागरिक के अधिकारो का उपभोग करने को उद्यत हो सकता है। इस अन्याय की प्रगति राजनीतिक निकाय के विनाश का कारण बन सकती है।

अत इस हेतु कि सामाजिक पायण केवल सारहीन सूत्र न रह जाय, इसमे प्रत्यक्ष उल्लिखित हुए बिना यह अभियुक्ति निहित होती है और यथार्थ मे इसी अभि-युक्ति के कारण दूसरो को बल मिलता है कि जो कोई सर्वसाधारण की प्रेरणा की आज्ञा मे विमुख होगा उसे आज्ञापालन को बाध्य करने के लिये समस्त निकाय का बल प्रयुक्त किया जायगा, जिसका अर्थ केवल इतना है कि उसे स्वतत्र रहने को बाध्य किया जायगा, क्योकि यही वह प्रतिबन्ध है, जो प्रत्येक नागरिक अपनी जन्मभूमि से सम्बद्ध होते हुए भी किसी अन्य कीअधीनता से मुक्त होने की प्रत्याभूति करता है, राज-नीतिक यत्र के नियत्रण और कर्मकरण को सुनिश्चित करता है और जो सामाजिक अभियुक्तियो को न्यायसगत बनाता है। इसके बिना विसगत, अत्याचारपूर्ण और सब प्रकार के दुरुपयोगो से परिपूर्ण होती है।

# परिच्छेद ८

## सामाजिक अवस्था

प्राकृतिक अवस्था से सामाजिक अवस्था में गमन मनुष्य के आचार मे अत ज्ञान के स्थान पर न्याय धारणा प्रतिष्ठापित करके उसके आचरण को वह नैतिक गुण प्रदान करके जिससे यह पूर्व मे विहीन था, एक भारी परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। जब भौतिक प्रेरणा के स्थान पर कर्तव्य के आह्वान की उत्पत्ति हो जाती है और अभिलाषा के स्थान पर विधान की स्थापना हो जाती है, मनुष्य, जिसका ध्यान तब तक केवल निज पर ही केन्द्रित होता था, केवल तभी यह अनुभव करने लगता है कि वह अन्य सिद्धातो पर कार्य करने और अपनी अभिलाषाओ पर कार्यशील होने मे पहिले अपने तर्क की सम्मति लेने को बाध्य है। यद्यपि इस अवस्था में वह अनेक लाभो से वचित हो जाता है जो उसे प्रकृति से प्राप्त होते थे, तथापि उनके बदले वह कई समान महान् लाभो को अवाप्त कर लेता है। उसकी शक्तियो का अनुष्ठान होने लगता है और वे उन्नत हो जाती है, उसके विचार विस्तृत हो जाते है, उसकी भावनाये श्रेष्ठ हो जाती है, उसकी समस्त आत्मा उस सीमा तक पराकृष्ट हो जाती है कि यदि इस नई अवस्था के दोष उसे बहुधा उस तल से भी नीचे न गिरा दें जिसमे वह उठा है तो उसे निरतर उस आनददायक घडी का गुणगान करना आवश्यक होगा जिसने उसे सदा के लिये उस तल से मुक्त करा दिया और एक मूर्ख और अनभिज्ञ पशु से एक बुद्धिशाली जीव—मनुष्य बना दिया।

अब हमे उपरोक्त समस्त मापदड को इस प्रकार विभक्त कर देना चाहिये कि उनकी तुलना सुगमतापूर्वक हो सके। जो कुछ मनुष्य सामाजिक पाषण से खोता है वह है प्राकृतिक स्वातन्त्र्य और उस समस्त पर जिसका वह इच्छुक हो और जिसे प्राप्त करने का सशक्त असीमित अधिकार वह अवाप्त करता है, वह है सामाजिक स्वातन्त्र्य और अपने समस्त धारणो पर सम्पत्ति अधिकार। हमे इन प्रतिफलो के सम्बन्ध में किसी प्रकार की गलती

न हो इसलिये यह आवश्यक है कि हम प्राकृतिक स्वातन्त्र्य, जिसकी सीमा की परिधि व्यक्ति की शक्ति होती है, और सामाजिक स्वातन्त्र्य जिसकी सीमा में सर्वसाधारण की प्रेरणा से निर्धारित होती है, और इसी प्रकार धारणाधिकार, जो बल के फल और प्रथम आभोग का अधिकार मात्र होता है, और सम्पत्ति अधिकार जो एक स्थित स्वप्न पर आधारित होता है, मे स्पष्ट अतर करे।

उपरोक्त के अतिरिक्त, हम सामाजिक अवस्था की प्राप्तियो की सूची में नैतिक स्वातन्त्र्य भी सम्मिलित कर सकते है जिसके फलस्वरूप ही मनुष्य सत्य रूप में निज का स्वामी होता है, क्योंकि आकस्मिक अभिलाषाओ की प्रेरणा का नाम दासत्व है और स्वत निर्धारित विधान के अनुपालन का नाम स्वतन्त्रता है। परतु इस बारे में पहले ही अत्यधिक कह चुका हूँ और शब्द 'स्वतन्त्रता' के दार्शनिक अर्थ का विश्लेषण मेरे वर्तमान विषय से सम्बन्धित नही है।

# परिच्छेद ६

## वास्तविक सम्पत्ति

समाज का प्रत्येक सदस्य समाज के निर्माण होते ही अपने आपको अपने वास्तविक रूप मे, अर्थात् अपने आपको और अपनी समस्त शक्तियो को, जिनका कि उस द्वारा धारण की हुई सम्पत्ति एक खड होता है, समाज को समर्पित कर देता है। इस विनिमय क्रिया द्वारा धारणाधिकार की प्रवृत्ति मे कोई परिवर्तन नही होता केवल सार्वभौमिक सत्ता को हस्तान्तरित हो जाने से यह सम्पत्ति बन जाता है। परन्तु यथा राज्य की शक्तियाँ व्यक्ति की शक्तियो से अतुलनीय अधिक होती है उसी तरह सार्वजनिक धारणाधिकार अधिक न्यायसगत हुए बिना भी यथार्थ मे, कम से कम जहाँ तक विदेशियो का सम्बन्ध है, अधिक परिरक्षित और अधिक अखडनीय हो जाता है, क्योकि अपने सदस्यो के प्रति तो राज्य, सामाजिक पाषण के अन्तर्गत ही (जो राज्य मे सब अधिकारो का आधारभूत होता है), नागरिको की समस्त सम्पत्ति का स्वामी बन जाता है। परन्तु अन्य शक्तियो के प्रति केवल व्यक्तियो से अवाप्त प्रथम उपभोग के अधिकार के बलपर ही यह स्वामी मान्य नही किया जा सकता।

प्रथम आभोग का अधिकार, चाहे यह शक्तिशालीतम के अधिकार से अधिक वास्तविक हो, केवल सम्पत्ति के स्थापन के अनतर ही स्वत्वाधिकार का रूप धारण करता है। प्रत्येक मनुष्य का प्रकृति से ही उस समस्त मे अधिकार होता है जो उसके लिये आवश्यक हो, परतु वह निश्चित क्रिया जो उसे किसी सम्पत्ति-विशेष का स्वत्वाधिकारी बनाती है वही क्रिया उसे समस्त अविशिष्ट धारणो से अपवर्जित कर देती है। उसका अपना भाग आवटित हो जाने के कारण उसके लिये अपने आपको उसी तक सीमित रखना वाछनीय हो जाता है और उस अविभक्त सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही रहता। यही कारण है कि प्रथम आभोग का अधिकार जो प्राकृतिक अवस्था में बहुत क्षीण माना जाता था राज्य के प्रत्येक सदस्य द्वारा सम्मानित किया जाता है। इस

अधिकार के अन्तर्गत मनुष्य इस बात का कम ध्यान रखते हैं कि किसी अन्य की क्या-क्या वस्तु है । उनको अधिक इस बात का ध्यान रहता है कि कौन-सी वस्तु उनकी अपनी नही है ।

किसी क्षेत्र मे प्रथम आभोग के अधिकार को न्यायसगत बनाने के लिये साधारणतया निम्न शर्तें आवश्यक होती हैं । प्रथम यह कि भूमि किसी अन्य द्वारा पूर्व से ही वासित नही है । दूसरे यह कि मनुष्य केवल उसी क्षेत्र को धारण करे जिसकी उसे अपने निर्वाह के हेतु आवश्यकता है । तीसरे यह कि मनुष्य उस भूमि को केवल एक निरर्थक अनुष्ठान द्वारा नही बल्कि श्रम और कर्षण द्वारा धारण करे, क्योकि वैधानिक स्वत्व के अभाव मे यही एक धारणाधिकार का चिह्न है जिसे अन्य सम्मानित करेंगे ।

यथार्थ मे यदि हम प्रथम आभोग के अधिकार को आवश्यकता और श्रम के अतर्गत मान लेते हैं तो क्या हम इस अधिकार का क्षेत्र विस्तृततम नही कर देते ? क्या इस अधिकार की सीमा निर्धारित करना असम्भव है ? क्या केवल सामान्य भूमि पर पदार्पण ही इसके धारणाधिकार का स्वत्व प्रदान करने को पर्याप्त है ? क्या अन्य मनुष्यो को इस भूमि मे तनिक काल के लिये हटा देने की शक्ति इसके लिये काफी है कि उनको इस पर लौटने के अधिकार मे भी वचित कर दिया जाय ? कोई मनुष्य अथवा राष्ट्र एक दडनीय बलाधिकार के अतिरिक्त किसी विस्तृत क्षेत्र को धारण करने और शेष समस्त मानव जाति को इससे लुठन करने का कैसे अधिकारी माना जा सकता है क्योकि इस क्रिया से अन्य मनुष्य निवास तथा निर्वाह के स्थान से जो प्रकृति ने सबको सामान्य रूप से प्रदान किये है, वचित हो जायेगे । जब न्यूनेज बाल्बो ने केवल समुद्रतट पर टैस्टील के राज्य के नाम पर प्रशात महासागर और समस्त दक्षिण अमेरिका का स्वत्व धारण कर लिया तो क्या यह क्रिया इस देश के समस्त निवासियो को स्वत्वहीन करने और विश्व के समस्त अन्य राजको को इससे अपवर्जित करने को पर्याप्त थी ? उपरोक्त धारणा के आधार पर इस प्रकार के निरर्थक अनुष्ठान निरतर पुनरावृत किये जा सकते थे और कैथोलिक राजा अपनी मत्री-परिषद् की सहमति से केवल एक आघात से ही समस्त विश्व का स्वत्वाधिकार धारण कर सकता था परतु ऐसा कर लेने के अनतर उसे अपने साम्राज्य से वह भाग पृथक् करना पडता जो पूर्व से ही अन्य राजको ने धारण कर लिया था ।

हम जानते है कि व्यक्तियो की सम्मिलित और समीप स्थित भूमियाँ सार्वजनिक क्षेत्र बन जाती है और सार्वभौमिक सत्ता का अधिकार प्रजा द्वारा प्राप्त भूमि पर

विस्तृत होकर एक साथ वास्तविक और वैयक्तिक बन जाता है। इस क्रिया से भूमि-दार राज्य पर और अधिक आश्रित हो जाते है और उनका स्वत बल ही उनकी स्वामिभक्ति की प्रत्याभूति बन जाता है। यह एक ऐसा लाभ है जिसे पुरातन सम्राटो ने स्पष्ट रूप मे नही समझा था, वे अपने आपको ईरानियो, सीथियो अथवा मैसेडोनियो के राजा कहलाते थे और अपने आपको लोगो के राजक समझते थे न कि देशो के स्वामी। वर्तमान के सम्राट् अधिक चतुरता से फ्रास, स्पेन, इग्लैण्ड आदि के राजा कहलाते है। भूमि को धारण करने के कारण वे इसके निवासियो को अपने अधीन रखने में सर्वथा निश्चित रहते है।

उपरोक्त अन्यक्रामण की यह विशेषता है कि व्यक्तियो की सम्पत्ति को धारण करके समाज उनको इससे लुठित करने की अपेक्षा केवल उनके वैधानिक स्वत्व को प्रगोपित करता है तथा बलाधिकार को सत्याधिकार मे और उपभोग को स्वत्वाधिकार में परिणत करता है। अपरञ्च, व्यक्तिगत सम्पत्तिधारको के सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रन्यासी मानित होने के कारण और उनके अधिकार राज्य के सब सदस्यो द्वारा सम्मानित होने और सब विदेशियो के प्रति राज्य की समस्त शक्ति द्वारा परिरक्षित होने के कारण (ऐसे सक्रमण के परिणामस्वरूप जो सर्वसाधारण को लाभदायक होता है और उससे भी अधिक लाभदायक उनको स्वत. होता है) ऐसा मानना चाहिये कि उन्होने सब अपहृरित सम्पत्ति को पुन प्राप्त कर लिया है। एक ही सम्पत्ति पर सार्वभौमिक सत्ता और सम्पत्तिधारक के विभिन्न अधिकार होते है, इसका भेद स्पष्ट करके उपरोक्त विरोधाभास का सुगमतापूर्वक समाधान किया जा सकता है, जैसा कि हम आगे बतायेगे।

यह भी सम्भव है कि मनुष्य सम्पत्ति को धारण करने के पहिले ही सम्मिलित हो जायँ और बाद मे सबके लिये पर्याप्त भूमि धारण करके उसका सम्मिलित तौर पर उपभोग करें अथवा आपस मे बराबर बराबर या सार्वभौमिक सत्ताधिकारी द्वारा निर्धारित अनुपात मे विभाजन कर लें। यह अवाप्ति चाहे किसी रीति से हुई हो, यह स्पष्ट है कि जो अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी सम्पत्ति पर प्राप्त है वे सदा उन अधिकारो के अधीन होगे जो समाज को सब पर प्राप्त है अन्यथा सामाजिक सगठन मे कोई स्थायित्व ही नही रहेगा और सार्वभौमिक सत्ता के प्रयोग मे कोई वास्तविक बल न रहेगा।

इस परिच्छेद और इस पुस्तक को मै इस अभियुक्ति के साथ समाप्त करता हूँ जो समस्त सामाजिक पद्धति का आधारभूत होना चाहिये, वह यह है कि प्राकृतिक समानता को विनष्ट करने की अपेक्षा, आधारभूत बधन प्रकृति द्वारा आरोपित

भौतिक असमानता को नैतिक और नैयायिक समानता से प्रतिस्थापितकर देता है जिसके परिणामस्वरूप बल और बुद्धि मे असमान होते हुए भी मनुष्य रूढि और नैयायिक अधिकार द्वारा समान हो जाते हैं।[1]

१ कुशासनों में यह समानता केवल आभासी और मायावी होती है, और दीनों को अपनी दीनता में और सम्पन्नों को अपने बलाधिकार में स्थापित रखने का आधार बन जाती है। यथार्थ में विधान सदा उनके लिये लाभदायक होते हैं जो सम्पत्तिशाली है और उन्हें हानिकारक होते हैं जिनके पास कुछ नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक अवस्था मनुष्यों को उसी सीमा तक लाभदायक होती है जिस तक प्रत्येक के पास कुछ न कुछ सम्पत्ति हो परन्तु किसी एक के पास अत्यधिक नहीं हो।

# पुस्तक २

# परिच्छेद १

## सार्वभौमिक सत्ता अनन्यक्राम्य है

ऊपर निर्धारित सिद्धांतो का प्रथम और सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम यह है कि सर्व-साधारण प्रेरणा ही राज्य बल को राज्य की सस्थाओ के प्रयोजनानुसार निर्दिष्ट कर सकती है, यह प्रयोजन सर्वकल्याण होना है। यदि समाज की स्थापना वैयक्तिक हितो के विरोध के कारण आवश्यक होती है तो उन्ही हितो के सम्मिलन द्वारा सम्भाव्य भी होती है। जो इन उपरोक्त विभिन्न हितो मे सामान्य होते है, वे ही सामाजिक बंध की आधारशिला बनते है और यदि सब हित किसी एक बिन्दु पर सम्मिलित न होते तो समाज का अस्तित्व हो ही नही सकता था। समाज का प्रशासन भी केवल इसी सम्मिलित हित के कारण ही चलता है।

इसलिये मै कहता हूँ कि सार्वभौमिक सत्ता, जो सर्वसाधारण प्रेरणा के प्रयोग का ही दूसरा नाम है, कभी अन्यक्राम्य नही किया जा सका, और सार्वभौमिक शक्ति, जो एक समूह्य इकाई होती है, केवल अपने द्वारा ही प्रतिनिहित हो सकती है। शक्ति तो पारेषित हो भी सकती है, किंतु प्रेरणा कभी नही।

वास्तव मे यदि यह असम्भव नही कि कोई विशिष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के किसी विशिष्ट बिन्दु पर सम्मिलित हो सके तो यह अवश्य असम्भव है कि उपरोक्त सम्मिलन चिरस्थायी अथवा अपरिवर्ती हो, क्योकि विशिष्ट प्रेरणा स्वभाव से ही अधिमान्यता की ओर प्रवृत्त होती है और सर्वसाधारण प्रेरणा समता की ओर। साथ ही यह सर्वथा असम्भव है कि उपरोक्त सम्मिलन प्रत्याभूत हो सके, क्योकि यदि यह निरंतर अस्तित्व मे रहे भी, तो वह केवल दैवयोग का फल होगा, किसी प्रयोजनात्मक क्रिया का नही। सार्वभौमिक शक्ति अवश्य कह सकती है कि "मेरी प्रेरणा अब वही है जो किसी विशिष्ट व्यक्ति की है या कम से कम जिसे कोई विशिष्ट व्यक्ति कहता है कि उसकी प्रेरणा है।" परंतु वह नही कह सकती कि "किसी विशिष्ट व्यक्ति की

जो कल प्रेरणा होगी मेरी प्रेरणा भी वही होगी क्योंकि कोई भी प्रेरणा प्रेरणा करनेवाले व्यक्ति के हित के प्रतिकूल सहमनन करने को बाधित नहीं की जा सकती। इसलिये यदि कोई राष्ट्र विवेकशून्यत अनुवर्तन करने की प्रतिज्ञा कर ले तो वह इस क्रिया से ही अपने आपको विलयित कर देता है, अपने राष्ट्रत्व के गुण को खो डालता है। जिस क्षण वह किसी को स्वामी मान्य कर लेता है, वह सार्वभौमिक शक्ति नही रहता और इस प्रकार राजनीतिक निकाय विनष्ट हो जाता है।

उपरोक्त का यह अर्थ नही है कि राजको के आदेश, जब कि सार्वभौमिक शक्ति विरोध करने का स्वातश्य रखते हुए भी उन आदेशो का विरोध नही करती है सर्वसाधारण प्रेरणा के निर्णय न समझे जावे। इसी अवस्था मे सार्वत्रिक मूकता से प्रजा का सहमनन अनुमानित किया जाना चाहिये। यह आगे चलकर सविस्तार स्पष्ट हो जावेगा।

# परिच्छेद २

## सार्वभौमिक सत्ता अभाज्य है

उसी कारण से जिससे सार्वभौमिक सत्ता अनन्यक्राम्य है, सार्वभौमिक सत्ता अभाज्य भी है। क्योकि प्रेरणा या तो सर्वसाधारण होती है[1] या नहीं होती, अर्थात या तो यह प्रजा के समस्त निकाय की होती है या केवल एक भाग की। पहली दशा मे उपरोक्त घोषित प्रेरणा सार्वभौमिक सत्ता की एक क्रिया और विधान की निर्माता होती है। दूसरी दशा मे यह केवल एक विशिष्ट प्रेरणा अर्थात् दंडाधिकार की क्रिया होती है अथवा उत्कृष्टतम रूप में एक प्रादेश होती है।

परतु हमारे राजनीतिक लेखक सार्वभौमिक सत्ता का सिद्धात के आधार पर वर्गीकरण न कर प्रयोजन के आधार पर वर्गीकरण करते है, वे इसका वर्गीकरण शक्ति और प्रेरणा के रूप अर्थात् विधायी शक्ति और अधिशासी शक्ति के रूप मे अथवा करारोपण, न्याय और युद्ध के अधिकारो के रूप में अथवा आंतरिक प्रशासन और विदेशियो से प्रतिपादन की शक्ति के रूप मे करते है, कभी इन सब अगो का सम्मिश्रण कर देते हैं और कभी उन्हे पृथक् कर देते हैं। वे सार्वभौमिक सत्ता को एक ऐसे काल्पनिक प्राणी का रूप दे देते है जो विभिन्न सबन्धित भागो का बना हुआ है। यूं कहना चाहिये कि वे एक मनुष्य के अनेक अलग शरीर बना देते है, एक केवल आंखो सहित, दूसरा केवल भुजाओ सहित, तीसरा केवल पद सहित। परन्तु अन्य अगो से विहीन। एक किवदती है कि जापान के मदारी दर्शको के समक्ष बच्चो को काट-कर हिस्से कर दिया करते थे, तमाम अवयवो को ऊपर हवा में उछालकर वे बच्चो को

१ प्रेरणा के सर्वसाधारण होने के लिये यह सदैव अनिवार्य नहीं होता कि वह सर्वसम्मत हो, परन्तु यह आवश्यक होता है कि सब मतों की गणना हो, कोई भी यथारूप अपवर्जन सर्व साधारणता के तत्त्व को विनष्ट कर देता है।

जीवित और सर्वांगपूर्ण उतार लेते थे। हमारे राजनीतिक लेखकों के कौतुक भी इन मदारियों की भाँति ही हैं। मेलो मे दिखाने योग्य कौतुक द्वारा सामाजिक निकाय के अलग-अलग अग करने के अनंतर ये इन अगो को न जाने कैसे पुन सम्मिलित कर देते हैं ।

उपरोक्त विभ्रम सार्वभौमिक सत्ता के बारे मे यथार्थ कल्पना न बनाने और उन वस्तुओं को सार्वभौमिक सत्ता का अग मानने जिनका इससे केवल उद्गम होता है, के कारण उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, युद्ध घोषित करने और सधि करने की क्रियाओ को सार्वभौमिक सत्ता की क्रियाएँ मान लिया गया है, परन्तु वास्तव मे यह ठीक नही है, क्योकि यह दोनो क्रियाएँ स्वय विधान न होकर विधान-शक्ति का प्रयोग मात्र हैं, अर्थात् विशिष्ट क्रियाएँ हैं जिनसे विधान की अवस्था का निर्माण होता है। यह बात और स्पष्ट हो जायगी जब हम शब्द 'विधान' का आधार स्थापित करेंगे।

अन्य वर्गों का इसी प्रकार निरूपण करने से यह पता चलेगा कि जब कभी भी सार्वभौमिक सत्ता विभाजित प्रतीत होती है तो हमारी कल्पना का ही भ्रम होता है, और जिन अधिकारो को हम उस सार्वभौमिक सत्ता का भाग मानते है वे सब उसके अधीन ही हैं और सदैव उन वरिष्ट प्रेरणाओ की कल्पना करते है जिनका ये अधिकार अधिशासी रूप मात्र हैं।

अपने निर्धारित सिद्धातो के अन्तर्गत राजा और प्रजा के अन्यान्य अधिकारो का निर्णय करते समय राजनीतिक लेखको के परिणाम, राजनीतिक अधिकारो के सबध मे सुतथ्यता की कमी के कारण कितने दुर्बोध हो गये है, इसका विवरण बिलकुल असम्भव है। ग्रोशस की पहली पुस्तक के तीसरे तथा चौथे परिच्छेद मे कोई भी देख सकता है कि वह विद्वान् और उसके अनुवादक बार्बेरेका अपने वाक्छलो मे इस भय से कि वे कही अत्यधिक न कह डाले अथवा अपने सिद्धातो के अनुसार पर्याप्त मात्रा मे न कह सके और उन हितो को अप्रसन्न कर दे जिन्हे प्रसन्न करना उनका उद्देश्य था, किस प्रकार उलझ गये तथा व्यग्र हो गये है। ग्रोशस ने, जिमने अपने देश से असतुष्ट होकर फ्रास में शरण ली थी और जो लुई त्रयोदश की जिसे उसने अपनी पुस्तक भी समर्पित की है, आराधना करना चाहता था, प्रजा को अपने समस्त अधिकारो से वचित करने में कोई कसर नही छोडी और अत्यन्त कुशलता से उन अधिकारो को राजाओ को प्रदान कर दिया। बार्बेरेका, जिसने अपने अनुवाद को इग्लैड के राजा जॉर्ज प्रथम को

समर्पित किया है, झुकाव भी प्रत्यक्षतय इसी ओर था। परंतु दुर्भाग्यवश जेम्स द्वितीय के देश निष्कासन के कारण, जिसे वह राज्य-त्यजन कहता है, वह सयत, अस्पष्ट और अपवञ्चित कथन करने को बाध्य हो गया ताकि विलियम बलाधिकारी सिद्ध न हो जाय। यदि यह दोनो लेखक सत्य सिद्धांतों को अपनाते तो समस्त कठिनाइयाँ दूर हो सकती थी और उनके लेख निरन्तर प्रभावशाली होते, परतु उस दशा मे उन्हे खेद सहित सत्य बोलना पडता और उन्हें प्रजा की ही आराधना करनी पड़ती। परन्तु सत्य लाभप्रद नही होता और प्रजा न दूत-पद न प्राध्यापक-पद और न ही निवृत्ति वेतन प्रदान कर सकती है।

# परिच्छेद ३

## क्या सर्वसाधारण प्रेरणा विभ्रमित हो सकती है ?

जो पहिले कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि सर्वसाधारण प्रेरणा सदा ठीक होती है और सदा सार्वजनिक हित की ओर प्रवृत्त होती है, परन्तु यह अर्थ नही है कि प्रजा के सकल्पो में सदा वही सचाई होगी। व्यक्ति सदा अपना हित चाहता है, परतु हमेशा विवेचन नही कर पाता । प्रजा कभी भ्रष्ट नही होती परतु बहुधा धोखे मे आ जाती है, और केवल उस दशा मे उनकी प्रेरणा निदित हो जाती है।

बहुधा सब व्यक्तियो की प्रेरणा और सर्वसाधारण प्रेरणा में अतर होता है। सर्वसाधारण प्रेरणा सामान्य हित से ही सम्बन्धित होती है, जब कि सब व्यक्तियो की प्रेरणा वैयक्तिक हितो पर ध्यान देती है और विशिष्ट प्रेरणाओ का आकलितरूप मात्र होती है। परतु यदि इन समस्त प्रेरणाओ से अतिरिक्तताओ और न्यूनताओ को काट दे जो यथार्थ मे एक दूसरे को प्रतितालित कर देती है[1] तो भिन्नताओ के योग के रूप मे सर्वसाधारण प्रेरणा रह जाती है।

यदि, जब यथापेक्ष ससूचित लोग सकल्प करते हो, नागरिक एक दूसरे से सचार स्थापित कर लें तो सर्वसाधारण प्रेरणा उनके अनेकानेक अल्प विभिन्नताओ के फल-स्वरूप सदा उपलब्ध होगी और सकल्प सदा हितकर होगा। परतु जब किसी समाज मे

**१ मार्किस दार्गासो कहता है कि "प्रत्येक हित का अलग-अलग सिद्धान्त होता है। दो अमुक हितो का मेल किसी तीसरे हित का प्रतिपक्ष करने में ही होता है।" वह इस व्याख्या का आगे विस्तार कर सकता था कि सब हितों का सम्मिलन प्रत्येक के हित के प्रतिपक्ष स्थापित होने से ही हो सकता है। यदि हितों में भिन्नता न हो तो सामान्य हित का अस्तित्व ही अनुभूत नहीं हो सकता और न ही उसमें कोई बाधा आ सकती है। प्रत्येक वस्तु स्वतः गतिशील हो जाती है, और राजनीति कला नहीं रह सकती।**

दल और बडी संस्था की क्षति के कारण पक्षीय सस्थाएँ निर्मित हो जाती है तो उपरोक्त प्रत्येक सस्था की प्रेरणा निजी सदस्यो के सबध से तो सर्वसाधारण होती है परतु राज्य के सबंध से विशिष्ट रहती है, उस दशा मे यह कहा जा सकता है कि उस राज्य में मताधिकारियो की संख्या व्यक्तियो पर आधारित रहने की अपेक्षा सस्थाओ पर आधारित हो गयी है। पारस्परिक भिन्नताएँ अल्पसख्यक हो गयी है और फलस्वरूप कम सर्वसाधारण रह गयी है। अतत जब उपरोक्त सस्थाओ मे से कोई एक इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि वह अन्य समस्त सस्थाओ पर अभिभावी हो सके तो परिणाम मे अल्प भिन्नताओ का योग प्राप्त नही होता है, अपितु एक विशिष्ट भिन्नता प्राप्त होती है। इस दशा मे सर्वसाधारण प्रेरणा रहती ही नही। बल्कि जो प्रेरणा प्रबल होती है वह एक विशिष्ट प्रेरणा ही है।

अत सर्वसाधारण प्रेरणा को स्पष्ट रूप से प्रकाशित करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य मे कोई पक्षीय सस्था न हो बल्कि प्रत्येक नागरिक अपने निजी मत को ही व्यक्त करे।[1] महान् लिसर्गस के अपूर्व एव उत्कृष्ट विधान का यही आशय था। परतु यदि पक्षीय सस्थाए अनिवार्य हो तो यह आवश्यक है कि उनकी सख्या अधिकाधिक हो ताकि असमानता असम्भव हो जाय, जैसा सोलन, न्यमा और सर्वियस ने निरूपित किया था। उपरोक्त ही वे उचित पूर्वविधान है जिनसे इस बात का विश्वास हो सकता है कि सर्वसाधारण प्रेरणा सदा प्रकाशित होगी तथा जनता को धोखा नही लगेगा।

१ मैक्यावली का कथन है "यह सत्य है कि संघराज्य के कुछ भाजन क्षतिकारक और कुछ उपयोगी होते हैं। वे भाजन क्षतिकारक होते हैं जो गुट्ट और पक्षों से संसर्गिक होते है, वे लाभदायक होते है जो गुट्ट और पक्षों के बिना ही संग्रहीत होते हैं। चूंकि राज्य का कोई संस्थापक यह पूर्वविधान नहीं कर सकता कि राज्य में शत्रुता उत्पन्न नहीं होगी, उसे कम से कम इस बात का पूर्वोपाय अवश्य करना चाहिए कि गुट्ट स्थापित न हों।"

# परिच्छेद ४

## सार्वभौमिक सत्ता की सीमाएँ

यदि राज्य या नगर एक नैतिक निकाय है जिसका जीवन उसके सदस्यो के सम्मिलन मे निहित है, और यदि इस निकाय की सबसे महत्त्वपूर्ण अपेक्षा आत्मसरक्षण है, यह स्पष्ट है कि इस राज्य के प्रत्येक भाग को समस्त के हित की दृष्टि से उचित रूप मे चालित और व्यवस्थापित करने के लिए सार्वत्रिक और बाध्यकारी बल की आवश्यकता होती है जैसे प्रकृति प्रत्येक मनुष्य को उसके समस्त अगो पर पूर्णाधिकार देती है उसी प्रकार सामाजिक पाषक राजनीतिक निकाय को उसके समस्त सदस्यो पर निरपेक्ष शक्ति प्रदान करता है, और यही वह शक्ति है जो सर्वसाधारण प्रेरणा से सचालित होने की दशा मे जैसा मै पहिले भी कह चुका हूँ, सार्वभौमिक सत्ता के नाम से निर्दिष्ट होती है।

परतु सार्वजनिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त हमे लोगो के निजी व्यक्तित्व पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योकि उनका जीवन और स्वतत्रता प्राकृतिक तौर पर सार्वजनिक व्यक्तित्व से अलग है। इस प्रकार नागरिको और सार्वभौमिक सत्ता के अन्यान्य अधिकारो मे[1] और इसी प्रकार नागरिको के उन अधिकारो मे जो उन्हे प्रजा के रूप मे उपलब्ध है और प्राकृतिक अधिकारो मे जो उन्हे व्यक्ति होने के कारण उपभोग्य है, स्पष्ट भेद किया जाना चाहिए।

यह अनुमान कि सामाजिक पाषण के अतर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त बल,

**१ सावधान पाठको, मै प्रार्थना करता हूँ कि जल्दी में मुझ पर विरोधाभास का आक्षेप नहीं करो। भाषा की दरिद्रता के कारण मै शब्दों में इसे वर्जित नहीं कर सकता हूँ, परन्तु प्रतीक्षा कीजिये।**

अपनी समस्त सम्पत्ति और अपने समस्त स्वातन्त्र्य का जो भाग अन्यक्रामित करता है वह केवल वही है, जिसका प्रयोग समुदाय के लिए आवश्यक होता है, किन्तु यह स्वीकार करना भी अनिवार्य है कि समुदाय के लिए क्या आवश्यक है, इसका निर्णायक केवल सार्वभौमिक सत्ताधिकारी ही होता है।

वे सब सेवाएँ जो नागरिक राज्य को दे सकता है, सार्वभौमिक शक्ति की माँग पर राज्य के प्रति देय होती है, परतु दूसरी ओर सार्वभौमिक शक्ति प्रजा पर कोई ऐसा भार नही डाल सकती जो समुदाय के लिए लाभदायक न हो। सार्वभौमिक शक्ति ऐसा करने की अभिलाषा तक नही कर सकती क्योकि युक्ति नियम के अतर्गत, यथा प्राकृतिक नियम के अनुसार अकारण ही कोई क्रिया नही होती।

जो अभियुक्तियाँ हमको सामाजिक निकाय से बधित करती है, वे पारस्परिक होने के कारण दायित्व बन जाती है और उनका स्वभाव ऐसा होता है कि उनकी पूर्ति करने मे अपना कार्य किये बिना व्यक्ति दूसरो का काम नही कर सकता। सर्वसाधारण प्रेरणा इसीलिए सदा न्यायसगत होती है और सब व्यक्ति अनिवार्य रूप से प्रत्येक की स्मृद्धि के इच्छुक होते है, क्योकि समाज मे कोई व्यक्ति ऐसा नही होता जो "प्रत्येक" को अपने लिए प्रयुक्त न करता हो और सब ओर से मत प्रगट करते हुए अपने आपको (प्रत्येक) न समझता हो। इससे सिद्ध होता है कि अधिकारो की समता और न्याय का भाव जो सर्वसाधारण प्रेरणा से उत्पादित होते है, वे उस अधिमान्यता से व्युत्पादित है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको देता है, परिणामस्वरूप मनुष्य के स्वभाव से ही व्युत्पादित है और कि सर्वसाधारण प्रेरणा यथार्थ में सर्वसाधारण प्रेरणा होने के लिए न केवल प्रयोजन से, बल्कि सारत ही सर्वसाधारण होनी चाहिए, और कि सर्वसाधारण प्रेरणा सब को लागू होने के लिए इसे सर्वसाधारण मे उदयमान भी होना चाहिए और कि सर्वसाधारण प्रेरणा की प्राकृतिक सत्यता विनष्ट हो जाती है यदि वह किसी वैयक्तिक और विशिष्ट प्रयोजन की ओर प्रवृत हो जाय, क्योकि उस दशा मे, जो हमे अज्ञात है उसका मापदड करने का हमारे पास कोई न्याय का सत्य सिद्धात नही होता।

वास्तव मे, जब कभी भी किसी विशिष्ट तथ्य अथवा अधिकार का निरूपण किसी ऐसे बिदु के सबध मे, जिसका विनियमन पूर्व सामान्य रूढि द्वारा न हुआ हो, करना होता है तो विषय विवादग्रस्त हो जाता है। इस विवाद मे स्वत्वाधिकारी व्यक्ति एक पक्ष होते है और सर्वसाधारण जनता दूसरा पक्ष, परतु मुझे यह स्पष्ट नही कि इसका निर्णय किस विधान व किस निर्णायक द्वारा किया जा सकता है। विवादग्रस्त विषय

को सर्वसाधारण प्रेरणा के स्पष्ट निर्णय के हेतु अभ्युदिष्ट करना हास्यास्पद होगा क्योंकि सर्वसाधारण प्रेरणा केवल एक पक्षीय निर्णय का ही हो सकेगा, जो परिणामत दूसरे पक्ष के लिए ऐसी प्रेरणा मात्र होगा जो निजात्मा से भिन्न तथा विशिष्ट और उपरोक्त परिस्थिति मे अन्याय की ओर प्रवृत्त और त्रुटिपूर्ण होगी। इसलिए जिस प्रकार विशिष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा का प्रतिनिधित्व नही कर सकती, उसी प्रकार सर्वसाधारण प्रेरणा किसी विशिष्ट निमित्त की ओर प्रवृत्त हो जाने से स्वभावत परिवर्तित हो जाती है और सर्वसाधारण न रहने के कारण किसी व्यक्ति अथवा तथ्य का निर्णय करने की अधिकारी नही रहती। उदाहरणार्थ, जब अथेन्स की प्रजा अपने राजको को निर्वाचित अथवा अधिकारच्युत करने लगी, किसी एक को आदरित और दूसरे को दडित करने के प्रादेश प्रसारित करने लगी और अनेक विशिष्ट प्रादेशो द्वारा शासन के सब कृत्यो का अविवेकता से प्रयोग करने लगी, तो वह प्रजा सर्वसाधारण प्रेरणा को धारण न करने के कारण सार्वभौमिक सत्ता का रूप न होकर केवल दडाधिकार की शक्ति ही प्रयोग करने लगी। यह मेरा कथन सामान्य विचारो के विपरीत प्रतीत होगा, परतु मुझे अपने विचारो की व्याख्या करने का अवसर मिलना चाहिए।

उपरोक्त से स्पष्ट होगा कि जो प्रेरणा को सर्वसाधारणता का गुण प्रदान करता है वह मतो की सख्या नही परन्तु हित की सामान्यता है जिसके कारण मत सम्मिलित होते हैं, क्योकि इस सस्थान के अन्तर्गत, प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्यत अपने लिए वही बधन मान्य करता है जो वह दूसरो पर आरोपित करता है। हित और न्याय का यह एक प्रशसनीय सम्मिलन है जिसके फलस्वरूप सामुदायिक वितर्क मे एक न्याय का भाव उत्पन्न हो जाता है जो किसी व्यक्तिगत प्रकार्य की चर्चा मे विकसित नही हो सकता, क्योकि वहाँ कोई सामान्य हित सम्मिलन करने का अथवा निर्णायक के मुख्य सिद्धातो का पक्ष के साथ एकात्म्य करने का हेतु नही होता।

चाहे किसी मार्ग से अपने सिद्धात की ओर उपगमन करे, हम सदा उसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सामाजिक पाषण नागरिको मे एक ऐसी समता स्थापित कर देता है कि वे सब समान बधनो के आधीन हो जाने और समान अधिकारो को प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार पाषण के स्वभाव के अन्तर्गत सार्वभौमिक सत्ता की प्रत्येक क्रिया, या यूँ कहिये कि सर्वसाधारण प्रेरणा का प्रत्येक प्रामाणिक कार्य, सब नागरिको को एक समान ही बधित अथवा अनुगृहीत करता है, जिसका अर्थ है कि सार्वभौमिक शक्ति राष्ट्र के निकाय को ही पहिचानती है और उस निकाय को सगृहीत करनेवाले व्यक्तियो में भेद नही करती। अब प्रश्न यह है कि सार्वभौमिक

सत्ता की क्रिया यथार्थ में है क्या ? यह क्रिया उत्कृष्ट तथा हीन के मध्य संविदा नही, परन्तु निकाय की अपने प्रत्येक सदस्य के साथ संविदा रूप है। यह सविदा विध्यानु-कूल है, क्योकि इसका आधार सामाजिक पाषण है, यह सविदा न्यायिक है, क्योकि यह सबके लिए समान है, यह सविदा लाभप्रद है, क्योकि सर्वसाधारण के हित के अतिरिक्त इसका कोई प्रयोजन नही हो सकता, यह संविदा चिरस्थायी है, क्योकि सर्वसाधारण का बल और वरिष्ट शक्ति इसकी प्रत्याभूति होती है। जब तक लोग उपरोक्त सविदा के अधीन होते है वे निजी प्रेरणा का ही अनुवर्तन करते हैं, किसी अन्य व्यक्ति का नही और उस अवस्था मे यह प्रश्न करना कि सार्वभौमिक शक्ति और नागरिको के अन्यान्य अधिकारो की सीमा क्या है, यथार्थ मे यह पूछना है कि नागरिक परस्पर मे, अर्थात् एक समस्त के साथ और समस्त एक के साथ, किस सीमा तक अभियुक्ति कर सकते है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्वभौमिक शक्ति सार्वत्रिक पूर्णाधिकारी, सार्वत्रिक पुनीत, एव सार्वत्रिक अनधिक्रम्य होते हुए भी सामान्य सविदा का न उल्लघन करती है और न कर सकती हैं और कि इस सविदा के अन्तर्गत सब मनुष्य अपनी सम्पत्ति और स्वातत्र्य के उस भाग का जो उनके पास रहा हो, पूर्णरूपेण व्यवस्थापन कर सकते है, और कि सार्वभौमिक शक्ति किसी व्यक्ति पर दूसरे व्यक्ति से अधिक भार डालने का अधिकार नही रखती, क्योकि ऐसा करने से प्रक्रिया विशिष्ट हो जायगी और उसकी सत्ता सक्षम न रह जायगी।

यदि उपरोक्त भिन्नताएँ मान्य कर ली जावे तो यह असत्य सिद्ध हो जायगा कि सामाजिक पाषण के अन्तर्गत व्यक्तियो की ओर से कोई स्वत्व त्याग होता है, वास्तव मे सामाजिक पाषण के फलस्वरूप व्यक्तियो की स्थिति पूर्व की अपेक्षा अधिमान्य होती है, कुछ खोने की अपेक्षा वे अपनी अनिश्चित तथा सदिग्ध जीवनचर्या का एक श्रेष्ठतर और अधिक विश्वस्त जीवनचर्या से, प्राकृतिक स्वाधीनता का स्वातत्र्य से, अन्यो को क्षति पहुँचाने की शक्ति का निश्चित सरक्षण से, और दूसरो को विजित कर सकने के बल का सामाजिक सगठन द्वारा सयोदित अनतिक्रम्य अधिकार से, लाभप्रद विनियमन कर लेते है। उनका जीवन भी, जिसे उन्होने राज्य के प्रति समर्पित कर दिया है, निरतर राज्य द्वारा सरक्षित होता है, और जब वे राज्य की सुरक्षा हेतु उसे आपत्ति में डालते हैं, तो यथार्थ में वे इससे अधिक क्या करते है कि जो उन्होने राज्य से प्राप्त किया है, वह उसे फेर दें। क्या प्राकृतिक अवस्था मे यही क्रिया उन्हे अधिक बारंबार और अधिक जोखिम के साथ नही करनी पड़ती थी, जब उन्हे अनिवार्य

संघर्षों में अभियोजित होते हुए अपने निर्वाह के साधनो तक को अपने जीवन को आपत्ति में डालकर प्रतिरक्षित करना पडता था ? यह सत्य है कि आवश्यकता होने पर प्रत्येक को अपने देश के लिए युद्ध करना पडता है, परतु पृथक् व्यक्ति को भी अपनी रक्षा के लिए युद्ध करने की आवश्यकता नही रहती। क्या अपनी सुरक्षा को स्थिर करने के लिए उस जोखिम का एक क्षीण भाग वहन करना प्राप्ति नही है जिसे इस सुरक्षा के अभाव मे हर व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक रक्षा के लिए पूरा वहन करना पडता था ?

# परिच्छेद ५

## जीवन और मरण का अधिकार

यह प्रश्न किया जा सकता है कि वे व्यक्ति जिन्हें अपने जीवन को समाप्त करने का अधिकार नही है, सार्वभौमिक शक्ति को वह अधिकार, जो उन्हें स्वय प्राप्त नहीं है, कैसे दे सकते हैं ? इस प्रश्न का निराकरण केवल इसलिए कठिन प्रतीत होता है कि यह प्रश्न गलत प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वत. परिरक्षित होने के लिए अपने जीवन को सकट मे डालने का अधिकार है। क्या कोई कह सकता है कि जो व्यक्ति आग से बचने के लिए खिडकी से नीचे कूदता है, वह आत्महत्या का दोषी है ? इसी प्रकार क्या यह अपराध किसी ऐसे व्यक्ति के सिर आरोपित किया गया है जो तूफान मे मर गया हो हालाँकि जहाज मे चलते समय वह तूफान आने की सम्भावना से अनभिज्ञ नही था ?

सामाजिक बध का उद्देश्य सविदा करनेवाले पक्षों का परिरक्षण होता है। जो निमित्त का इच्छुक होता है, उसे उस निमित्त प्राप्ति के साधनो को भी मान्य करना पडता है, और साधनो से कुछ सकट और कुछ हानियाँ अविभेद्य होती हैं। जो अपने जीवन को दूसरो के सहारे परिरक्षित करना चाहता है उसे अपने जीवन को भी आवश्यकता पडने पर दूसरो के लिए देने को उद्यत होना चाहिए। नागरिक उस संकट का निर्णायक नही हो सकता जिसे विधान के अन्तर्गत उसे सहन करना पडता है, और जब राजक उसे आदेश देता है कि "राज्य के रक्षण के लिए यह आवश्यक है कि तुम मरो" उसे मरने को उद्यत होना चाहिए, क्योंकि इसी शर्त पर उसने इतने दिनों तक अपना जीवन निर्भयता से बिताया है और क्योंकि उसका जीवन अब प्रकृति का उपहार न रहकर राज्य का सप्रतिबध उपहार हो गया है।

अपराधियो को जो मौत का दड दिया जाता है, उसे इसी दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। हत्या करनेवाला मरने को इसलिए राजी हो जाता है कि नहीं तो उसे

किसी घातक की बलि होना पडेगा। सामाजिक बध में प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट करने की अपेक्षा परिरक्षित करने की ही सोचता है और बंध करते समय सविदा करनेवाले पक्ष फांसी लगने का चिंतन तक नही करते।

अपरंच, हर अपराधी जो सामाजिक अधिकारो पर आक्रमण करता है, अपने कार्यों के फलस्वरूप देश के प्रति विद्रोही और विश्वासघाती हो जाता है। देश के विधानो का उल्लघन करने के कारण वह उस देश का सदस्य नही रहता बल्कि उससे युद्ध करने का अपराधी हो जाता है। उस दशा में राज्य का परिरक्षण तथा उस व्यक्ति का परिरक्षण परस्पर में असगत हो जाते है, दोनो मे से एक का विनाश अनिवार्य हो जाता है। इसलिए जब किसी अपराधी को फांसी दी जाती है तो यथार्थ मे एक नागरिक को फांसी नही दी जाती, बल्कि एक शत्रु को। प्रकरण की कार्यवाही और निर्णय इस बात का प्रमाण तथा घोषणा है कि उस व्यक्ति ने सामाजिक बध को तोड दिया है और फलत वह उस राज्य का सदस्य नही रह गया है। चूंकि देश मे निवास होने के कारण उसकी सदस्यता को स्वीकृत कर लिया गया था, अब उसे बध के उल्लघनकर्ता होने के कारण देश से निष्कासित करके अलग करना अथवा सार्वजनिक शत्रु के रूप मे मौत द्वारा समाप्त कर देना आवश्यक है क्योंकि उपरोक्त शत्रु एक नैतिक व्यक्ति न रहकर केवल एक मनुष्य रह जाता है और युद्ध के नियमो के अन्तर्गत पराजित शत्रु को मारना न्यायसगत होता है।

परंतु कोई यह कह सकता है कि अपराधी को मौत का दंड देना एक विशिष्ट क्रिया है। यह बात स्वीकार है, मृत्यु-दड देने का अधिकार सार्वभौमिक सत्ता मे निहित नही है। सार्वभौमिक सत्ता इस अधिकार को दूसरे को प्रदान कर सकती है परतु स्वय इसका प्रयोग नही कर सकती। मेरे समस्त विचार शृखलाबद्ध है, परतु मैं उन सबकी एक साथ ही व्याख्या नही कर सकता।

साथ ही यह भी ठीक है कि मृत्यु-दड की बारबारिता सदा शासन की दुर्बलता एव अचेतता का द्योतक होती है। कोई मनुष्य इतना निरुपयोगी नही होता कि उसे किसी न किसी निमित्त के योग्य न बनाया जा सके। हम उदाहरण स्थापित करने के निमित्त भी केवल उन्ही को मारने के अधिकारी है, जिनका परिरक्षण करना खतरे से खाली न हो।

जहाँ तक क्षमा प्रदान करने अथवा अपराधी मनष्य को विधान के अतर्गत न्याया-धीश द्वारा दिये हुए दड से मुक्त करने का सम्बन्ध है, यह अधिकार केवल सार्वभौमिक

सत्ता में ही निहित है, जो न्यायाधीश और विधान दोनो के ऊपर है। तथापि सार्व-भौमिक सत्ता का यह अधिकार बहुत स्पष्ट नही है और इसे प्रयोग में लाने के अवसर बहुत बिरले आते है। सुशासित राज्य में दंड बहुत कम दिये जाते हैं। इसका कारण यह नही कि बहुधा क्षमा प्रदान की जाती है, बल्कि यह कि अपराधी ही कम होते हैं। जब राज्य क्षय की ओर प्रवृत्त होता है, तो अपराधियों का समूह तक दड से बच जाता है। रोमी गणराज्य मे न शिष्ट सभा और न उप-राज्यपाल क्षमा प्रदान करने को उद्यत होते थे, जन-समुदाय भी क्षमा प्रदान नही करता था, यद्यपि अनेक बार वे अपने निर्णयो को निरस्त कर देते थे। बारबार क्षमा प्रदान का अर्थ यह होता है कि शीघ्र ही अपराधियो को क्षमा की आवश्यकता न रहेगी, और उसका अतिम परिणाम क्या होगा, हर व्यक्ति समझ सकता है। लेकिन मेरा हृदय असतुष्ट हो रहा है और मेरी लेखनी को रोक रहा है। इन प्रश्नो को उस धार्मिक मनुष्य के विचारार्थ छोडना ठीक होगा जिसने कभी अपराध न किया हो और जिसे कभी क्षमा-प्राप्ति की आवश्यकता न पडी हो।

# परिच्छेद ६

## विधान

सामाजिक पाषण से राजनीतिक निकाय तो अस्तित्व मे आ गया, अब प्रश्न यह है कि विधान द्वारा इसे गति और प्रेरणा किस प्रकार पदान की जाय, क्योकि मूल क्रिया जो इस निकाय को निर्मित अथवा सम्मिलित करती है, इसके अतिरिक्त और कुछ निश्चय नही करती कि इस निकाय को अपने सरक्षण के लिए क्या करना चाहिये।

जो उचित है और व्यवस्था के अनुरूप है वह वस्तुओ के स्वभाव के अतर्गत और मानुषिक सविदा से स्वतन्त्र ही ऐसा होता है। समस्त न्याय ईश्वरीय देन है। समस्त न्याय ईश्वर से प्राप्त होता है, केवल वह ही इसका स्रोत है, परन्तु यदि हमारे लिए इतने उत्कृष्ट स्रोत से सीधा उसे प्राप्त करना सम्भव होता तो हमे न शासन की आवश्यकता थी और न विधानो की। निस्सन्देह सार्वत्रिक न्याय विवेक से ही उत्पन्न होता है, परतु यह न्याय समुदाय में मान्य होने के लिए अन्योन्य होना चाहिये। यदि वस्तुओ को मानुषिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो प्राकृतिक सम्मोदन-विहीन न्याय सिद्धान्त मनुष्य-समुदाय मे निरर्थक सिद्ध होते है। जब कोई एक व्यक्ति उन पर दूसरे सब मनुष्यो के प्रति अमल करे, परन्तु कोई और मनुष्य उस व्यक्ति के प्रति उन पर अमल न करे तो वे दुष्टो को लाभप्रद और भलों को हानिप्रद ही सिद्ध होते है। इसलिए रूढियाँ तथा विधान अधिकारो को कर्तव्यों के साथ सम्मिलित करने और न्याय को उसके प्रयोजन के साथ सम्बद्ध करने के लिए आवश्यक होते है। प्राकृतिक अवस्था मे जहाँ सब कुछ सामान्य है, उन्हें, जिनको मैने कुछ देने का वचन नही दिया है, कुछ भी देने को बाध्य नही हूँ, केवल वही वस्तु मै दूसरो की सम्पत्ति मानने को उद्यत हूँ जो मेरे लिये निरर्थक है। सामाजिक अवस्था मे जहाँ सब अधिकार विधान द्वारा सस्थापित होते है, उपरोक्त स्थिति उपस्थित नही होती।

परतु अत मे विधान है क्या ? जब तक लोग इस शब्द के साथ आध्यात्मिक विचारो का सम्मिश्रण करते रहेंगे उनकी दलीले दूसरो की समझ मे नही आयेगी और उस दशा मे, जब वे प्राकृतिक विधान की व्याख्या करेगे, तो उससे किसी को राज्य का विधान क्या है, यह अधिक स्पष्ट नही होगा।

मै पहिले ही कह चुका हूँ कि किसी विशिष्ट प्रयोजन के सम्बन्ध में सर्वसाधारण प्रेरणा प्रयुक्त नही होती। यथार्थ में उपरोक्त विशिष्ट प्रयोजन या तो राज्य के अन्तर्गत होता है या राज्य के बाहर। यदि यह राज्य के बाहर हो तो वह प्रेरणा जो बाह्य है राज्य-सम्बन्ध मे सर्वसाधारण हो ही नही सकती, और यदि यह राज्य के अन्दर है तो यह उसका एक अग होती है, और उस दशा में सम्पूर्ण और उसके एक अग में एक ऐसा सम्बन्ध उत्पन्न हो जायगा जिसके अन्तर्गत वे दो अलग-अलग आत्माएँ बन जायेंगी, अर्थात् सम्पूर्ण का एक अग एक अलग आत्मा और इस अग के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण एक दूसरी आत्मा। परतु सम्पूर्ण किसी एक भाग को कम कर देने के अनतर सम्पूर्ण नही रहता और जब तक उपरोक्त सम्बन्ध निर्वाहित रहेगा तब तक सम्पूर्ण वस्तु अस्तित्व मे न रहकर केवल दो असमान भाग रहेंगे, जिसका अर्थ यह होगा कि किसी एक भाग की प्रेरणा दूसरे के सम्बन्ध मे सर्वसाधारण प्रेरणा नही होगी।

परतु जब कोई सम्पूर्ण जन-समुदाय सम्पूर्ण समुदाय के लिए प्रादेश जारी करता है तो वह अपने आपको ही अवलोकित करता है और यदि उस दशा में कोई सम्बन्ध स्थापित होता है तो यह सम्बन्ध सम्पूर्ण को विभाजित किये बिना सम्पूर्ण वस्तु किसी एक बिन्दु के प्रकाश मे और सम्पूर्ण वस्तु किसी अन्य बिन्दु के प्रकाश मे, इन दोनो के बीच होगा। परिणामत जिस विषय के सम्बन्ध में प्रादेश निर्मित किया जायगा, यथा वह प्रेरणा जो उस प्रादेश को निर्माण करने का निमित्त होगी, दोनो सर्वसाधारण होगे। उपरोक्त क्रिया को मै विधान कहता हूँ।

जब मै यह प्रस्तुत करता हूँ कि विधान का प्रयोजन सदा सर्वसाधारण होता है तो मेरा यह अर्थ है कि विधान विषयो का सामूहिक रूप में और क्रियाओ का अमूर्त रूप मे निरूपण करता है, मनुष्य का व्यक्तिगत रूप में अथवा किसी एक विशिष्ट क्रिया का कभी निरूपण नही करता। उदाहरणार्थ, विधान द्वारा यह प्रादेश दिया जा सकता है कि विशेषाधिकार स्थापित होगे, परतु उन विशेषाधिकारो को किसी एक विशिष्ट व्यक्ति को प्रदत्त नही किया जा सकता। विधान द्वारा नागरिको की अनेक श्रेणियाँ बनायी जा सकती है, और वह अर्हताएँ भी निर्धारित की जा सकती हैं जो प्रत्येक श्रेणी मे सम्मिलित होने को अधिकृत करेगी, परतु विधान विशिष्ट व्यक्तियो को किसी एक श्रेणी मे नाम निर्दिष्ट नही कर सकता। विधान द्वारा राजन्य शासन अथवा पित्रागत उत्तराधिकार स्थापित किया जा सकता है, परंतु विधान द्वारा कोई राजा निर्वाचित नही किया जा सकता, न ही कोई राजन्य कुटुम्ब नियुक्त किया जा सकता

है। सक्षेप में, वैधानिक शक्ति द्वारा कोई ऐसी क्रिया कार्यान्वित नही की जा सकती जिसका सम्बन्ध किसी एक प्रयोजन से हो।

उपरोक्त दृष्टिबिन्दु से यह तत्काल स्पष्ट हो जायगा कि यह पूछने की कि विधान बनाना किसका कर्तव्य होना चाहिये, आवश्यकता नही रहती, क्योकि विधान सर्व-साधारण प्रेरणा के कार्य होते हैं। न यह स्पष्ट करने को आवश्यकता रहती है कि राजा विधानो के ऊपर है अथवा नही, क्योकि राजा भी राज्य का एक सदस्य होता है। न यह पूछने की आवश्यकता रहती है कि क्या विधान अन्यायपूर्ण हो सकता है, क्योकि कोई अपने ही प्रति अन्याय नही करता। न यह निर्धारित करने की आवश्यकता रहती है कि किस प्रकार हम स्वतंत्र है और विधानो के अधीन भी हैं, क्योकि विधान वास्तव में हमारी अपनी प्रेरणाओ के ही तो निबध मात्र है।

अपरच इससे स्पष्ट हो जायगा कि क्योकि विधान मे प्रेरणा की सार्वत्रिकता और प्रयोजन की सार्वत्रिकता का सम्मिश्रण होता है, इसलिए जो निर्देश व्यक्ति, चाहे वह कोई हो, केवल अपने बल से देता है, विधान नही हो सकता। इसी प्रकार सार्वभौमिक सत्ता भी जो निर्देश किसी विशिष्ट प्रयोजन के सम्बन्ध मे करती है, वह विधान न होकर केवल एक प्रादेश ही होता है, सार्वभौमिक सत्ता की क्रिया न होकर दडाधिकार की क्रिया होती है।

इसीलिए मै किसी ऐसे राज्य को गणराज्य कहता हूँ जो विधानो द्वारा शासित होता है,चाहे उसके प्रशासन की शैली कैसी ही हो,क्योकि उपरोक्त स्थिति मे ही सार्व-जनिक हित सर्वोपरि होता है और सार्वजनिक वस्तु सार्थक होती है। प्रत्येक न्याययुक्त शासन गणराज्यात्मक[1] होता है। शासन का क्या अर्थ है यह मै आगे बताऊँगा।

विधान यथार्थ मे सामाजिक साहचर्य का प्रतिवन्ध मात्र है। लोगो को विधानो के अधीन होने के कारण उनके निर्माता होना चाहिये क्योकि साहचर्य के प्रतिबधो का

१ इस शब्द से मेरा अर्थ शिष्ट जनसत्ता राज्य अथवा जनतंत्र इत्यादि से नहीं है परन्तु साधारणतया ऐसे शासन से है जो सर्वसाधारण प्रेरणा द्वारा, अर्थात् विधान द्वारा, संचालित होता है। न्याययुक्त होने के लिए शासन को सार्वभौमिक सत्ता के साथ संयोजित नहीं करना चाहिये, परन्तु इसे सार्वभौमिक सत्ता का सहायक बनाना चाहिये। उस स्थिति में राजन्य शासन भी गणराज्य हो जायगा। इसका स्पष्ट विवेचन अगली पुस्तक में किया जायगा।

निर्णय सहचारियो द्वारा ही किया जाना उपयुक्त है। परन्तु वे निर्णय किस प्रकार करेंगे, सामान्य सविदा द्वारा अथवा आकस्मिक उच्छ्वास द्वारा ? क्या राजनीतिक निकाय को अपनी प्रेरणा व्यक्त करने का कोई साधन उपलब्ध है ? अपने कार्यों की रचना करने और उन्हें पूर्वत प्रकाशत करने को आवश्यक पूर्वज्ञान उसे कौन प्रदान करेगा और आवश्यकता के समय वह इन्हे किस प्रकार उदघोषित करेगा ? एक अध जनसमूह जो बहुधा अपनी इच्छाओ को नही जानता, क्योकि उसे अपने हित की पहिचान भी बहुत कम होती है, इतने बडे और कठिन उपक्रम को जो विधान बनाने मे अतर्भृत होता है, कैसे स्वत ही निष्पादित करेगा ? स्वत लोग सदा अपना हित चाहते है, परन्तु सदा उस हित का विवेचन नही कर पाते। सर्वसाधारण प्रेरणा सदैव उचित होती है, परतु जो निर्णय-शक्ति इसका पथप्रदर्शन करती है वह सदा संशय-रहित नही होती। आवश्यकता यह है कि उसे वस्तुओं का यथार्थ रूप दिखाया जाय और कभी-कभी तो, कि वह रूप भविष्य मे क्या होनेवाला है, कि उसे वह हितकारी पथ प्रदर्शित किया जाय जिसकी वह खोज करती है, कि उसे वैयक्तिक हितो के शीलापवाहन से प्रतिरक्षित किया जाय और कि इसे समय और क्षेत्र का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने को प्रवृत्त किया जाय ताकि यह तत्कालीन और प्रत्यक्ष हितो के प्रलोभन का दूरस्थ और गुप्त अहितो के भय से सतुलन कर सके। व्यक्ति उस हित की ओर दृष्टिपात करते है जिसे वे अस्वीकृत करते है और जनता उस हित को चाहती है जिसे वह स्पष्टतया देख नही पाती। सबको समानत पथ-प्रदर्शको की आवश्यकता है। व्यक्तियो को अपनी इच्छाओं का नियमन युक्ति के अनुरूप करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिये। जनता को किस वस्तु की आवश्यकता है यह पहिचानने की शिक्षा दी जानी चाहिये। इस प्रकार जनसाधारण के प्रबोधन के फलस्वरूप सामाजिक निकाय मे बुद्धि और प्रेरणा का एकीकरण सम्भाव्य होगा और उससे सर्वांगो का यथार्थ सहकार्य और अत मे समस्त की अधिकतम शक्ति सम्पादित होगी। इस प्रकार विधिकर की आवश्यकता उत्पन्न होती है।

# परिच्छेद ७

## विधिकर

साहचर्य के उचिततम नियमो का निरूपण करने के हेतु जो राष्ट्रो को उपयुक्त हो, यह परमावश्यक है कि एक ऐसी उत्कृष्ट बुद्धि की प्राप्ति हो जो स्वय उन भावो के प्रभाव मे न होते हुए लोगो के सब भावो की प्रतीति कर सके, जो हमारे स्वभाव से सादृश्य न रखे परन्तु इसे पूर्णरूपेण जान सके, जिसका अपना सुख हम पर निर्भर न हो, परन्तु हमारे सुख मे दिलचस्पी लेने को उद्यत हो सके, और अतत , जो समय की प्रगति के साथ अपनी दूरस्थित प्रसिद्धि को सगृहीत करती हुई एक युग मे श्रम करने और दूसरे युग में उसका फल भोगने को तैयार हो सके । स्पष्ट है कि लोगो को विधान देने के लिए ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता होती है ।

कैलिक्युला ने तथ्य के सम्बन्ध मे जो युक्ति दी थी प्लेटो ने उसी युक्ति को सामाजिक और राजक मनुष्य का आदर्श स्थापित करते समय, अपने ग्रथ 'स्टेट्समैन' मे अधिकार के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया। परन्तु यदि यह सत्य है कि महान राजक दुर्लभ होता है तो महान् विधिकर की स्थिति क्या होगी ? क्योकि महान् राजक को तो केवल उस आदर्श की पूर्ति करनी है जिसका निर्माण महान् विधिकर द्वारा किया जाता है। महान् विधिकर यत्र को उपज्ञात करनेवाला यान्त्रिक होता है, महान् राजक केवल वह कर्मकार है जो इसे निष्पन्न करके चालू करता है। माटेस्क्यू का कथन है कि "समाजो की उत्पत्ति के सिलसिले मे गणराज्यो के राजक सस्थाओ का निर्माण करते हैं और तदनतर यह सस्थाएँ गणराज्यो के राजको को निर्धारित करती हैं ।"

जो व्यक्ति किसी राष्ट्र को सस्थाएँ प्रदान करने को उद्यत होता है उसे निज मे कतिपय शक्तियाँ अनुभव करनी चाहिये अर्थात् मानुषिक प्रकृति को बदलने की शक्ति, प्रत्येक व्यक्ति को जो स्वत एक पूर्ण और स्वतत्र इकाई है, एक ऐसी बृहत्तर इकाई का भाग बना देने की शक्ति जिससे वह किसी प्रकार अपना जीवन और अस्तित्व प्राप्त

करता हो, मनुष्य को अधिक प्रबल बनाने के लिए उसके स्वभाव को बदलने की शक्ति, उस स्वतंत्र और भौतिक अस्तित्व को जो हम सबने प्रकृति से प्राप्त किया है, सामाजिक और नैतिक अस्तित्व द्वारा प्रतिस्थापित करने की शक्ति। एक शब्द में, यह आवश्यक है कि वह मनुष्य को अपनी कुछ स्वाभाविक शक्तियों से वंचित करे ताकि उसमें ऐसी नयी शक्तियाँ सम्पन्न हो सकें जो उसके लिए बाह्य है और जिनका प्रयोग वह दूसरो की सहायता के बिना नही कर सकता। जिस मात्रा मे ये प्राकृतिक शक्तियाँ मद और विनष्ट कर दी जावेगी उसी मात्रा मे अवाप्त शक्तियाँ अधिक विशाल और स्थिर होगी और सस्थाएँ भी अधिक ठोस और सम्पूर्ण होगी। इस प्रकार यदि प्रत्येक नागरिक समस्त दूसरो से सम्मिलित हुए बिना नकारात्मक हो जाय और कुछ कर न सके और यदि सम्पूर्ण द्वारा अवाप्त शक्ति सब व्यक्तियो की प्राकृतिक शक्तियो के योग के बराबर अथवा उससे उत्कृष्ट हो, तो हम कह सकते हैं कि विधान सम्पूर्णत्व की सम्भाव्य उत्कृष्टतम सीमा को प्राप्त हो गया है।

प्रत्येक दृष्टि से विधिकर राज्य मे एक असाधारण मनुष्य होता है। अपनी अपूर्व बुद्धि के कारण तो उसको असाधारण होना ही चाहिये, परतु अपने कर्तव्य से भी वह असाधारण ही होता है। उसमें न दडाधिकार है और न सार्वजनिक सत्ता निहित होती है। विधिकर का पद गणराज्य का निर्माता होते हुए भी इसके सविधान मे कोई स्थान नही रखता, यह एक विशेष और उत्कृष्ट पद होता है जिसकी मानुषिक शासन से कोई समानता नही हो सकती, क्योंकि यदि जो मनुष्यो पर प्रशासन करता है उसे विधानीकरण का अधिकार नही होना चाहिये, तो जिसका कर्तव्य विधानीकरण है उसे भी मनुष्यो का शासन नही करना चाहिये,नही तो उसके द्वारा निर्मित विधान, उसकी अपनी लालसाओ के सहायक होने के कारण, बहुधा उसके अपने अनैतिक कार्यों को शाश्वत करने का साधन मात्र हो जायेगे और वह कदापि अपने वैयक्तिक विचारो को अपने कर्तव्य की पवित्रता को दूषित करने से अवरुद्ध नही कर सकेगा।

जब लिसर्गस[1] ने अपने देश का विधान बनाना आरम्भ किया तो सर्वप्रथम उसने अपना राज्य-पद त्यागा। अनेक यूनानी नगरो मे यह प्रथा थी कि वे अपने विधानो का निर्माण विदेशियो के सुपुर्द किया करते थे। इटली के अर्वाचीन सघराज्य भी इसी

१ राष्ट्र केवल तब प्रसिद्ध होता है जब उसका विधान अवनत होना शुरू हो। लोग इससे अनभिज्ञ हैं कि लिसर्गस द्वारा स्थापित संस्थाएँ स्पार्टावालों को कितनी शताब्दियों तक सुख प्रदान करती रहीं, पूर्व इसके कि वे समस्त यूनान में जानी गयी।

रीति का अनुसरण करते थे, जनीवा के शासन ने भी यही किया और इसे लाभप्रद पाया[1]। रोम ने अपने सबसे यशस्वी युग मे विधानीकरण शक्ति और सार्वभौम सत्ता को एक ही हस्त में एकत्रित करने के परिणामस्वरूप यह अनुभव किया कि अत्याचार के समस्त दोष उसके भीतर उत्पन्न हो गये हैं और उसे विनाश की सीमा तक पहुँचा दिया है।

फिर भी, द्वादश विधिकर मडल ने केवल अपने प्राधिकार के बल पर किसी विधान को पारित करने की धृष्टता कभी नही की। वे हमेशा लोगों से कहते थे कि "जो कुछ हम प्रस्तावित करते हैं, विधान का रूप तभी धारण करेगा जब आप लोग इसे मान्य करेंगे। रोम के निवासियो तुम स्वय अपने विधानो के निर्माता बनो, क्योकि इनसे तुम्हारा सुख परिरक्षित होना चाहिये।"

इसलिए जो विधानो की रचना करता है उसे न कोई विधानीकरण का अधिकार होता है और न होना चाहिये, और लोग, यदि वे ऐसा चाहे भी तो, अपने आपको इस अनन्य सचरीय अधिकार से विहीन नही कर सकते हैं क्योकि आधारभूत पाषण के अनुसार सर्वसाधारण प्रेरणा ही व्यक्तियो को बाध्य करने की शक्ति रखती है और यह निश्चित रूप से कभी नही कहा जा सकता कि कोई विशिष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के अनुकूल है जबतक कि उसपर लोगो का स्वतत्र मत प्राप्त न कर लिया गया हो। मैं यह पहिले भी कह चुका हूँ परतु इसे दोहराना निरर्थक नही होगा।

इस प्रकार विधानीकरण के कार्य मे हम एक साथ दो चीजे पाते हैं जो असगत प्रतीत होती हैं। एक ऐसा उपक्रम जो मानुषिक शक्ति मे से भी परे है और इसे निष्पादित करने के लिए एक प्राधिकार जो बिल्कुल नकारात्मा-सा है।

एक और कठिनाई भी ध्यान देने योग्य है। वे बुद्धिमान मनुष्य जो साधारण लोगो से बोलते समय उनकी भाषा की अपेक्षा अपनी निजी भाषा का प्रयोग करते हैं, वे समझे नही जा सकते, परन्तु हजारो ऐसे विचार हैं जो लोगो की सामान्य भाषा मे

१ जो कैल्विन को केवल अध्यात्मवादी के रूप में ही जानते हैं वे उसकी उत्कृष्ट बुद्धि के विस्तार से अपरिचित मात्र हैं। हमारे देश की बुद्धिपूर्ण राज्यघोषणाओं का सम्पादन, जिसमें उसका महान् भाग था, उसके यश का इतना ही बड़ा आधार है, जितना उसके द्वारा लिखित 'संस्था' नामक ग्रंथ। हमारे धर्म में समय कितनी ही क्रान्ति उत्पन्न कर दे परन्तु जब तक हम में देश और स्वतत्रता के प्रेम का ह्रास नहीं होता है, इस महान् पुरुष का संस्मरण आदरपूर्वक किया ही जाता रहेगा।

अनूदित नही हो सकते। अतिसामान्य अभिप्राय और अतिदूरस्थ प्रयोजन इसकी पहुँच से बाहर है और प्रत्येक व्यक्ति अपने विशिष्ट हितो से सम्बन्धित शासन-व्यवस्था के अतिरिक्त किसी अन्य का अनुभव न रखने के कारण, उन लाभों को कठिनता से अव-लोकित करता है जो अच्छे विधानो द्वारा निर्दिष्ट शाश्वत नियुक्तियाँ उसे प्रदान कर सकती हैं। एतदर्थ कि कोई नवनिर्मित राष्ट्र राजनीति के स्वस्थ सिद्धातो का अनुभव कर सके और राज्य के आधारभूत नियमो का निष्पादन कर सके, यह आवश्यक होता है कि परिणाम कारण का स्थान ले, कि जो सामाजिक प्रवृत्ति उस संस्था का परि-णाम होनेवाली है, वह स्वय सस्था का अध्यासन करे और मनुष्य विधान बनने के पूर्व ऐसे हो जैसे वे विधान द्वारा बननेवाले है। चूँकि विधिकर बल अथवा तर्क का प्रयोग नही कर सकता इसलिए यह आवश्यक है कि उसे एक दूसरे प्रकार का प्राधिकार प्राप्त हो जो हिसा-प्रयोग के बिना बाधित कर सके और सतोष दिये बिना प्रतीति करा सके।

यही कारण है कि सब युगो में राष्ट्र-पिताओ को आकाश के अतरयण की शरण लेनी पड़ी और अपनी निजी बुद्धि का यश ईश्वर पर अर्पित करना पडा ताकि राष्ट्र प्रकृति के नियमो की तरह राज्य के नियमो के अधीन रहते हुए और मनुष्य के निर्माण मे निहित शक्ति के समान राज्य के निर्माण मे प्रयुक्त शक्ति को स्वीकार करते हुए स्वेच्छा से आज्ञापालन कर सके और सार्वजनिक कल्याण के भार को नम्रतापूर्वक वहन कर सके।

विधिकर उस उत्कृष्ट युक्ति को जो साधारण मनुष्यो की पहुँच के बाहर होती है, देवो द्वारा वर्णित प्रदर्शित करता है, इसलिए कि वह ईश्वरीय प्राधिकार से उन लोगो को प्रभावित कर सके जिन्हें मानुषिक बुद्धि प्रभावित करने मे असफल होती है। [1]परन्तु हर मनुष्य ईश्वर से बात नही करा सकता, न ही हर मनुष्य को लोग ईश्वरीय उपदेश के व्याख्याकर्ता के रूप मे मान सकते है। विधिकर की महान आत्मा ही वह वास्तविक चमत्कार है जो उसके नियोग का प्रमाण होता है। सब लोग शिला फलको पर खोद

१ मैक्यावली का कथन है कि "यह बात सत्य है कि किसी राष्ट्र में कोई ऐसा असाधारण विधान-निर्माता नहीं हुआ जिसमें ईश्वर का आधार न लिया हो, क्योंकि नहीं तो वे विधान स्वीकृत नहीं हो सकते थे। बुद्धिमान मनुष्य कई ऐसे लाभप्रद सिद्धान्तो की अनुभूति कर सकता है जो इतने स्वतः स्पष्ट नहीं होते कि वह दूसरों द्वारा भी स्वीकृत हो सके।"

सकते हैं, भविष्यवक्ताओ को उत्कोचित कर सकते हैं, किसी ईश्वरीय शक्ति से गुप्त संचार का बहाना कर सकते हैं अथवा किसी पक्षी को कान में बोलने को प्रशिक्षित कर सकते हैं, अथवा लोगो को प्रभावित करने का कोई अन्य फूहड साधन निकाल सकते है। जो केवल उपरोक्त साधनो से ही भिज्ञ हैं वह सम्भवत मूर्ख लोगो का समूह एकत्रित कर सके, परन्तु वह कभी भी साम्राज्य का सस्थापक नही हो सकता और उसकी मृत्यु के साथ ही यथाशीघ्र उसकी अवास्तविक कृति विनष्ट हो जायगी। सारहीन प्रवचनाए अचिरस्थायी बधन मात्र स्थापित कर सकती हैं, केवल बुद्धि ही बंधन को चिरस्थायी बनाती है। यहूदियो का विधान जो अब भी जीवित है और इस्माइल के बच्चे का विधान जो दस शताब्दियो से आधे विश्व पर शासन कर रहा है, अब भी उन महान् पुरुषो का यश प्रज्वलित कर रहे हैं जिन्होने उन्हें रचा था। अभिमानी दर्शनों और अध पक्षपाती भावो को इन विधानो में भाग्यवान पाखड के अतिरिक्त कुछ नही दीखता है, परतु वास्तविक राजनीति इन विधानो की शैली मे उस महान और शक्तिशाली उत्कृष्ट बुद्धि का दर्शन करती है जो स्थायी सस्थाओ की अध्यासक होती है।

उपरोक्त के आधार पर बावेर्टन की भाँति यह अनुमान करना आवश्यक नही कि हमारे मध्य राजनीति और धर्म का उद्देश्य एकीभूत होता है, केवल यह मानना आवश्यक है कि राष्ट्रो की उत्पत्ति मे एक दूसरे का निमित्त बनता है।

# परिच्छेद ८

## राष्ट्र (१)

जिस प्रकार वास्तुकार किसी विशाल भवन के निर्माण के पूर्व यह जानने के लिए स्थल की जाँच करता है कि भवन के भार को वह सम्भाल सकेगी अथवा नही, उसी प्रकार बुद्धिमान विधिकर अच्छे विधानो का प्रवर्तन केवल इसीलिए प्रारम्भ नही कर देता कि वे स्वत ही उत्तम है, बल्कि प्रथम वह यह जाँच करता है कि वे लोग जिनके लिए वह विधान बना रहा है, उनको सहन करने की सामर्थ्य रखते है या नही। यही कारण था कि प्लेटो ने आर्केडिया निवासियो तथा सीरेनिया निवासियो के लिए विधान बनाने से इनकार कर दिया था, क्योकि उसे ज्ञान था कि यह दोनो राष्ट्र सम्पन्न है और समानता के सिद्धात को स्वीकार नही करेगे, और यही कारण है कि क्रीट देश मे उत्तम विधान किन्तु कूट लोग पाये जाते हैं क्योकि मिनोस ने दोष परिपूर्ण लोगो को ही अनुशासित करने की कोशिश की थी।

सहस्रो राष्ट्र जो भूमि पर फले-फूले है उत्तम विधानो को सहन नही कर सकते थे, और जो कुछ ऐसा कर भी सकते थे वे भी अपने सम्पूर्ण जीवन के थोडे ही काल मे ऐसा करने मे सफल हुए। मनुष्यो की भाँति बहुधा राष्ट्र भी अपने यौवनकाल मे ही वश्य होते है, बडे होने के साथ वे अशोध्य हो जाते है। जब एक बार रूढियाँ स्थापित हो जाती है तथा प्रतिकूलताएँ जड पकड जाती है, तो उन्हें बदलने का प्रयत्न एक भयावह एव निष्फल चेष्टा होती है, क्योकि लोग, उन मूर्ख और भीरु मरीजो की भाँति जो चिकित्सक की शकल देखते ही काँपने लग जाते है, यह सह नही सकते कि उनके कष्टो को निवारणार्थ अकित तक किया जावें।

किन्तु जिस प्रकार कुछ बीमारियाँ मनुष्य के मस्तिष्क को अस्थिर कर देती है और भूत की कुल स्मृति को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार कभी-कभी राष्ट्रो के जीवन में ऐसे विप्लवकाल होते है जिनमे क्राति से राष्ट्रो के मस्तिष्क पर वही प्रभाव पड़ता

है जो कतिपय सकटो से व्यक्तियो के मस्तिष्क पर पड़ता है, जिनमे भूत का भय विस्मरण का स्थान प्राप्त कर लेता है तथा गृह-युद्ध से पीडित राष्ट्र अपनी भस्म से जैसे पुनर्जीवित हो उठता है और यमराज के हाथो से छूटकर एक नये यौवन की अनुभूति करने लगता है। लिसर्गस के समय में स्पार्टा की यही दशा हुई, तार्क्विनो के अनन्तर रोम भी इसी स्थिति से गुजरा था। बलाधिकारियो को निष्कासित करने के अनन्तर हालैंड तथा स्विटजरलैण्ड भी हमारे ही मध्य इस स्थिति से गुजरे हैं।

परन्तु यह घटनाए बिरली होती है, ये अपवाद रूप हैं जो किसी विशेष राज्य के विशिष्ट सगठन के कारण ही घटित होती हैं। किसी एक ही राष्ट्र मे इस प्रकार की घटनाए दो बार घटित हुई नही जानी गयी क्योकि जब राष्ट्र अशिष्ट हो तो स्वतन्त्र हो सकता है किन्तु जब सामाजिक ससाधन उत्साहित हो चुकते है तब ऐसा होने की सम्भावना नही रहती। उस समय विप्लव इसे विनष्ट कर सकता है परन्तु क्राति इसे पुनर्जीवित नही कर सकती और ज्योही इसकी जजीरें टूट जाती हैं यह टुकडे-टुकडे होकर गिर जाता है और समाप्त हो जाता है। तदनतर इसे किसी स्वामी की आवश्यकता होती है, मुक्तिदाता की नही। स्वतत्र राष्ट्रो, इस उक्ति को याद रखो—"स्वतत्रता उपार्जित की जा सकती है, पुन प्राप्त कभी नही की जा सकती।"

यौवनकाल बचपन नही होता। जैसे व्यक्ति के लिए वैसे ही राष्ट्रो के लिए, विधानो को लागू करने को, यौवन की, यदि आप यो कहना चाहे, वयस्कता की प्रतीक्षा करना आवश्यक है। परन्तु राष्ट्र की वयस्कता को पहिचानना सदा आसान नही होता और यदि उसमे पूर्वावधारण हो जाय तो कार्य विफल हो जाता है। कोई राष्ट्र तो जन्मत ही अनुशासित होने को सम्भाव्य होता है, कोई दूसरा छ शताब्दियो पश्चात् भी अनुशासित होने को अर्हता प्राप्त नही करता। रूस के लोग वास्तविक रूप मे कभी सास्कृतिक नही हो सकने क्योकि उनमे सस्कृति उत्पन्न करने की कोशिश अति शीघ्र की गयी। पीटर मे नकल करने की अपूर्व बुद्धि थी, परन्तु उसमे वह वास्तविक अपूर्व बुद्धि नही थी जो शून्य से सब चीज उत्पादित वा निर्मित कर सकती है। उसके कई प्रकार्य लाभदायक थे किन्तु बहुधा समय के प्रतिकूल थे। उसने देखा कि उसकी प्रजा अशिष्ट है, परन्तु वह यह न देख सका कि सस्कृति प्राप्त करने के लिए अपरिपक्व है, वह उन्हें शिष्ट बनाना चाहता था, जबकि उसे उन्हे अनुशासित करना चाहिये था। वह आरम्भ से ही जर्मन और अग्रेज निर्माण करना चाहता था, जबकि उसे रूसी बनाने की कोशिश करनी चाहिये थी। अपनी प्रजा को जो कुछ वे नही थे वह मानने को प्रोत्साहित करने के कारण वह अपनी प्रजा के जो कुछ वह बन

सकती थी, बनने में घातक सिद्ध हुआ। इसी प्रकार फ्रासी अध्यापक अपने शिष्य को बचपन से ही देदीप्यमान होने को शिक्षित करता परन्तु उसके बाद वह बिलकुल शून्य हो जाता है। रूसी साम्राज्य यूरोप को अधीन करने की इच्छा करेगा और स्वय दूसरे के अधीन हो जायगा। उसकी आधीनस्थ प्रजा और पडोसी ताताय लोग उसके और हमारे भी स्वामी हो जायेंगे। मुझे यह क्रांति अनिवार्य लगती है। यूरोप के सब राजा सवादित रूप मे इसका त्वरण कर रहे हैं।

# परिच्छेद ६

## राष्ट्र (२)

जिस प्रकार प्रकृति ने सुडौल मनुष्य के डीलडौल का परिमाण बाँध दिया है, जिस परिमाण के बाहर डीलडौल केवल देवो और बौनो का ही हो सकता है, उसी प्रकार राष्ट्र के सर्वोत्तम निर्माण के सम्बन्ध मे भी इसकी सम्भाव्य परिमिति का परिमाण होता है ताकि राष्ट्र इतना बडा न हो कि इसका प्रशासन सुविधा से न चल सके और न ही इतना छोटा हो कि वह अपने आपको सस्थापित रखने मे कठिनाई अनुभव करे। प्रत्येक राजनीतिक निकाय मे शक्ति की अधिकतम मात्रा होती है जो पार नही किया जा सकता और जो राज्य की परिमिति बढ़ने के कारण बहुधा घट जाया करती है। सामाजिक क्षेत्र को जितना विस्तृत किया जाय उतना ही वह कमजोर हो जाता है, और साधारणत छोटा राष्ट्र बडे राष्ट्र से अनुपातत अधिक शक्तिशाली होता है।

हजारो दलीलें इस सिद्धात की सत्यता को प्रदर्शित करती है। प्रथमत फासला अधिक हो जाने से प्रशासन अधिक कठिन हो जाता है जैसे 'लीवर' की लम्बाई अधिक हो जाने से भार गुरुतर हो जाता है। राष्ट्रीय अगो की वृद्धि के अनुपात से प्रशासन अधिक भारप्रद होता जाता है, क्योकि प्रत्येक नगर का अपना प्रशासनीय ढाँचा होता है जिसका व्यय उसे बर्दाश्त करना पडता है, प्रत्येक मडल का अपना जिसका खर्च भी उन्ही लोगो को बर्दाश्त करना पडता है और तदन्तर प्रत्येक प्रात तथा वरिष्ट सरकारो, मडलेश्वरो, उपराजको का, जिनका व्यय भी अधिकार की पराकाष्ठा के क्रम से बढी ही मात्रा मे, इन्ही अभागे लोगो को वहन करना पडता है; अत मे सर्वोच्च प्रशासीतत्र होता है जिससे सब अभिप्लुत हो जाते है। इसके अतिरिक्त अनेक असाधारण भार प्रजा को निरतर उत्श्रावित करते है, फलत समस्त विभिन्न अधिकारीवृन्द द्वारा सुशासित होनेकी अपेक्षा प्रजा अविभक्त वरिष्टाधिकारी होनेके मुकाबले मे अधिक बुरी तरह शासित होती है। आकस्मिक सकटो के निवारणार्थ ऐसे राष्ट्र मे कोई

ससाधन नहीं रहते हैं, और जब इन ससाधनो की आवश्यकता पड़ जाती है तो राष्ट्र विनाश के तट पर स्थित होता है।

केवल इतना ही नही, न केवल शासन विधानों को मनवाने, प्रबाधनो को अवरुद्ध करने, कुव्यवहारो को सुधारने और दूरस्थित स्थानो पर राजद्रोही चेष्टाओ को पूर्वाव-धानित करने मे कम सक्रिय और ओजस्वी रह जाता है, बल्कि लोगो का स्नेह अपने अधिकारी वर्ग के प्रति जिन्हे वे कभी देख ही नही पाते, अपने देश के प्रति जो उनकी दृष्टि मे विश्व के बराबर प्रतीत होता है, और अपने देश-बन्धुओ के प्रति, जो उन्हें बहुधा अज्ञात प्रतीत होते हैं, कम हो जाता है। जब इन प्रान्तो के रीति-रिवाज विभिन्न हो, जलवायु अलग-अलग हो और उनके लिए उसी शासकीय पद्धति का मान्य करना सम्भव न हो, तो ऐसी स्थिति में समान विधान विभिन्न प्रान्तो के लिए उपयुक्त नही होते। एक ही वरिष्टाधिकारी के अधीन और एक दूसरे से निरतर सम्पर्क मे होते हुए, एक दूसरे से मिलते हुए और अतर्विवाह करते हुए लोगो मे विभिन्न विधानो द्वारा केवल कठिनाई और विभ्रम उत्पन्न होता है, क्योकि विभिन्न रूढियो के अधीन होने से उन्हे यह भी पता नही लगता कि उनकी विरासत उनकी अपनी है या नहीं। उस जनसमूह मे जो एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं और जिसे सर्वोच्च अधिकारी द्वारा एक स्थान पर एकत्रित कर लिया गया है, योग्यताएँ आवरित रहती हैं, गुण उपेक्षित रहते है और दोष अदण्डित रह जाते है। प्रमुख अधिकारी कार्य से अभिलुप्त होने के कारण स्वय कुछ नही देख सकते, राज्य पर अधिनस्थ कर्मचारी शासन करने लग जाते हैं। अन्त मे, समस्त सार्वजनिक ध्यान उन साधनो पर केन्द्रित हो जाता है जिन्हे इतने अनेक अधिकारियो के दूरस्थित होने के कारण सामान्य प्रभुत्व को अप-वचित तथा आक्रमित करने से अवरुद्ध करने के लिए लेना अनावश्यक होता है, लोक-हित कार्य करने का उतना महत्व नही रहता, न ही जरूरत के समय देश की रक्षा का ध्यान रहता है। इस प्रकार जो राष्ट्र अपने गठन के परिमाण से अत्यधिक बडा होता है वह अपने ही भार के कारण डूब जाता और नष्ट हो जाता है।

दूसरी ओर राष्ट्र को स्थायित्व धारण करने के लिए, उन आघातो को अवरुद्ध करने के लिए, जो अनिवार्यत आने ही वाले है और उन कार्यों को स्थिर करने के लिए जो स्थायित्व कायम रखने के लिए करने ही पड़ेंगे, एक स्थिर नीव का प्राप्त करना आवश्यक है क्योकि देवकात के जलभँवरो की तरह समस्त राष्ट्रो में एक केंद्रापग बल होता है जिसके कारण वे निरतर एक दूसरे के विरुद्ध कार्यशील होते हैं और अपने पडोसियो के व्यय पर अपनी सत्ता बढाने की आकांक्षा करते हैं। इसलिए निर्बलो को

यह भय होता है कि वे शीघ्र अन्यो द्वारा हडप न कर लिये जावे और कोई भी अपने आपको ऐसी साम्य दशा मे स्थापित किये बिना जिसके फलस्वरूप सब स्थानो पर सम्पीडन एक-सा हो जाय, अपने स्थायित्व को देर तक रक्षित नही कर सकता।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसरण और सकोचन दोनो के अलग-अलग कारण होते है और राजनीति की योग्यता की यह न्यूनतम कसौटी है कि वह दोनो अर्थात् प्रसरण और सकोचन मे राष्ट्र के सरक्षण के हेतु उपयोगित मे अनुपात मालूम कर सके।

साधारणत. यह कहा जा सकता है कि प्रसार बाह्य और साक्षेप होने के कारण सकुचन के अधीन रखना चाहिये, जो आन्तरिक तथा सम्पूर्ण होता है। सबसे पहली तलाश की वस्तु स्वस्थ एव दृढ सविधान होता है और उन ससाधनो की अपेक्षा जो विस्तृत क्षेत्र से उपलब्ध होते है, हमे सुशासन से व्युत्पन्न होनेवाले ओज पर अधिक विश्वास रखना चाहिये।

परन्तु राष्ट्रो का निर्माण इस प्रकार भी हुआ है कि उनके गठन मे ही विजय करने की आवश्यकता निहित थी और अपने आपको सस्थापित रखने के लिए उन्हे निरतर प्रसार की नीति अपनानी पडी। हो सकता है कि इस सुखद आवश्यकता से उन्हे हर्ष मिला हो, परन्तु इसी आवश्यकता ने उन्हे प्रदर्शित किया होगा कि उनकी पराकाष्ठा का क्षण ही अनिवार्यरूप से उनके पतन का आरम्भ था।

# परिच्छेद १०

## राष्ट्र ( ३ )

कोई सगठित राज्य दो रीतियो से मापा जा सकता है, अर्थात् उसके क्षेत्र के विस्तार द्वारा तथा दूसरा उसकी प्रजा की सख्या द्वारा। इन दोनो मापो की रीतियो मे एक औचित्य का सम्बन्ध होता है जिसके अनुसार राज्य के विस्तार का वास्तविक परिमाण निश्चित किया जा सकता है। राज्य का निर्माण मनुष्यो द्वारा होता है, मनुष्य भूमि द्वारा पोषित होते है, इसलिए उचित सम्बन्ध यह होगा कि भूमि इस पर रहनेवाली प्रजा के ठीक निर्वाह के लिए पर्याप्त हो और प्रजा इतनी हो जितनी भूमि से पोषित हो सके। इसी अनुपात द्वारा किसी निश्चित प्रजा की अधिकतम शक्ति का पता चल सकता है, क्योकि यदि भूमि अत्यधिक हो तो उसकी देखभाल कष्टदायक हो जायगी, कृषि अपर्याप्त रहेगी और उपज आवश्यकता से अधिक होगी। यह दशा रक्षात्मक लडाइयो का आगामी कारण है। यदि भूमि पर्याप्त मात्रा मे न हो, तो राज्य को निर्वाहपूर्ति के लिए अपने पडोसियो पर निर्भर होना पडता है और यह दशा आक्रमणात्मक लडाइयो का आगामी कारण है। कोई भी राष्ट्र, जिसके सामने अपनी स्थिति के कारण वाणिज्य और लडाई मे विकल्प रहता है, स्वत कमजोर होता है, यह अपने पडोसियो पर और घटनाओ पर निर्भर रहता है, इसका जीवन अवश्य ही अल्पकालीन और अनिश्चित होता है। या तो यह दूसरे देशो को जीतकर अपनी स्थिति को बदलता है, नही तो यह दूसरो द्वारा विजित होकर विनष्ट हो जाता है। यह अपनी स्वतत्रता को छोटा अथवा बडा बनकर ही सस्थापित कर सकता है।

भूमि विस्तार और प्रजा-सख्या के विस्तार के सम्बन्ध को किसी निश्चित सख्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करना असम्भव है, क्योकि भूमि के गुणो में, उसकी उर्वरता की मात्रा मे, उसकी उपज के प्रकार में और जलवायु के प्रभाव में अतर होते है, साथ ही भूमि पर निवास करनेवाली प्रजा के स्वभाव में भी अतर होता है क्योकि उपजाऊ

देश में लोग कम उपभोग करनेवाले और अनुपजाऊ भूमि पर अधिक उपभोग करनेवाले हो सकते है। इसके अतिरिक्त दूसरी विचारणीय बाते होती है, स्त्रियो की अत्यधिक अथवा न्यून सतानोत्पत्ति की शक्ति, देश के हालात अर्थात् वे जनसख्या के लिए अधिक या कम अनुकूल है, और विधिकर अपने द्वारा स्थापित की हुई सस्थाओं से लोगो की कितनी सख्या देश में आकर्षित करने की आशा कर सकता है, इस निर्णय का आधार वे तथ्य नही होने चाहिये जो आज दिखाई देते है परन्तु वे जिनके होने की आशा की जा सकती हो, लोगो की वर्तमान स्थिति का अवलोकन कम किया जाना चाहिये, अधिक उसका अवलोकन किया जाना चाहिये जो स्वाभाविक रूप से निर्मित होनेवाली है। सक्षेप मे, हजारो ऐसे प्रसग होते है जहाँ स्थिति के विशिष्ट तथ्यो की यह माँग होती है, अथवा वे यह अनुमति देते हैं कि जितना क्षेत्र आवश्यक दीखता हो उससे अधिक लिया जाना चाहिये, उदाहरणार्थ पहाडी क्षेत्र मे लोग अधिक प्रसारित होगे क्योकि वहाँ प्राकृतिक उपज अर्थात् वन और मरुस्थल को श्रम की कम आवश्यकता होती है और वहाँ अनुभव के आधार पर यह सिद्ध है कि स्त्रियो की सतानोत्पत्ति की शक्ति मैदानो की अपेक्षा अधिक होती है और वहाँ विस्तृत और ढालू तल पर केवल एक क्षैतिज्य आस्थान होता है जिस पर सब्जी इत्यादि पैदा हो सकती है। इसके विपरीत लोग समुद्रतट पर चट्टानो और रेतीली भूमि के बीच मे, जो प्राय अनुपजाऊ होती है, छोडे क्षेत्र मे भी निवास कर सकते है, क्योकि बहुत हद तक मत्स्योद्योग भूमि-उपज की कमी को पूरा कर सकता है, साथ ही लोगो को समुद्र-दस्युओ को दूर हटाने के लिए सकेंद्रित होने की अधिक आवश्यकता होती है और यदि देश मे अति जन-सख्या हो जाय तो उपनिवेशो द्वारा उसे निवारित करने की अधिक सुविधा होती है।

राष्ट्र को स्थापित करने के लिये उपरोक्त अवस्थाओ मे एक और को जोडना अत्यावश्यक है, जिसका स्थान कोई और नही ले सकती और जिसके बिना यह सब अवस्थाए निष्फल हो जाती है। वह है प्रजा द्वारा प्रचुरता तथा शाति का उपभोग करना, क्योकि राज्य के निर्माण का समय सिपाहियो को बटेलियन मे एकत्रित करने की तरह वह होता है जब निकाय में रोध की शक्ति न्यूनतम होती है और उसे विनष्ट करना सरलतम होता है। रोध-शक्ति उबाल की अपेक्षा सम्पूर्ण अव्यवस्था के समय अधिक होती है, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति सर्वसाधारण के खतरे की अपेक्षा अपने निजी क्रम की अधिक चिन्ता करता है। यदि ऐसे क्षण पर युद्ध अथवा अकाल या राजद्रोह आ पड़े तो राज्य अनिवार्य रूप से उलट जायगा।

इन तूफानी क्षणो में बहुत नये शासन बन सकते है परन्तु यही शासन राज्य को विनष्ट करने का कारण बनते है। बलाधिकारी सदा सकटकालीन परिस्थिति का निर्माण करते है अथवा ऐसे समय की प्रतीक्षा करते है कि वे सार्वजनिक उत्पात को आड में ऐसे विनाशकारी विधान बना सकें जिन्हे जनता शात समय में कभी अभिगहन करने को उद्यत न होगी। शासन स्थापित करने के समय का निरूपण ही दृढतम लक्षण है जिससे विधिकार और अत्याचारी के कार्य मे भेद किया जा सकता है।

विधान प्रयुक्ति के लिए कौन राष्ट्र ठीक होता है ? वह राष्ट्र जो किसी उद्भव के सम्मिलन अथवा रूढि द्वारा पहले ही सघटित हो परतु जिसने अभी तक विधानो के वास्तविक जुए को ग्रहण न किया हो, वह राष्ट्र जिसमें न रूढियो का और न मूढ विश्वासो का पक्की तरह से बीजारोपण हुआ हो, वह राष्ट्र जिसे आकस्मिक आक्रमण से अभिप्लावित होने का भय न हो, अर्थात् जो अपने पडोसियो के झगडो मे प्रविष्ट हुए बिना या तो प्रत्येक अन्य का अकेले ही प्रतिकार कर सकता है अथवा एक की सहायता से दूसरे को पीछे हटा सकता है, वह राष्ट्र जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सम्भवत एक दूसरे को जानता है और जिसमे किसी पर उसकी वहन-शक्ति से अधिक भार डालने की आवश्यकता नही पडती है, वह राष्ट्र जो दूसरे राष्ट्रो की मदद के बिना निर्वाह कर सकता है और जिसकी मदद के बिना प्रत्येक दूसरे राष्ट्र निर्वाह कर सकते हैं, वह राष्ट्र जो न गरीब है और न अमीर, बल्कि आत्मनिर्भर है, और अत मे वह राष्ट्र जिसमें पुराने राष्ट्र की भाँति स्थायित्व का मेल नये राष्ट्र की शिक्षितव्यता से होता है, जो विधानीकरण को दुष्कर बनाता है वह कारण क्या स्थापित करना है इसमे कम परतु क्या विनष्ट करना है इसमें अधिक निहित होता है, और इस काम मे सफलता इसलिए दुर्लभ होती है कि प्रकृति की सरलता का सम्मिश्रण समाज की आवश्यकताओ के साथ होना असम्भव है। यह ठीक है कि उपरोक्त समस्त परिस्थितियाँ आसानी से एकत्रित नही होती इसीलिए सुसगठित राज्य कम दिखाई देते है।

यूरोप मे अब भी एक ऐसा देश है जिसमे विधानीकरण होना सम्भव है। यह कोर्सिका का द्वीप है। इस बहादुर राष्ट्र ने जिस साहस और दृढता से अपनी स्वतन्त्रता को पुन[1] प्राप्त किया तथा प्रतिरक्षित किया वह हमे इसका पात्र बनाती है कि कोई

[1] यदि किन्हीं दो पड़ोसी राष्ट्रों में एक का दूसरे के बिना निर्वाह न होता हो तो पहले राष्ट्र के लिए परिस्थिति बहुत कठिन होती है, और दूसरे के लिए बहुत भयावह। प्रत्येक बुद्धिमान राष्ट्र ऐसी स्थिति में दूसरे राष्ट्र को इस अवलम्बिता से शीघ्रातिशीघ्र

बुद्धिमान व्यक्ति इसे यह सिखाये कि स्वतत्रता को सरक्षित कैसे किया जा सकता है। मुझे यह लगता है कि यह छोटा द्वीप एक दिन समस्त यूरोप को विस्मित करेगा।

मुक्त करने का प्रयत्न करेगा। थासकला गणराज्य ने, जो मैक्सिको के साम्राज्य द्वारा समावृत था, मैक्सिकोवालों से नमक खरीदने अथवा मुफ्त लेने की अपेक्षा नमक के बिना निर्वाह करना अधिमान्य किया। थासकला के बुद्धिमान लोगों को इस उदारता में एक गुप्त छल लगता था। उन्होंने अपने आपको स्वतंत्र रखा, और यह छोटा राज्य जो उस बड़े राज्य में समावृत था, अंत में उस साम्राज्य के नाश का निमित्त बन गया।

# परिच्छेद ११

## विधानीकरण की विभिन्न शैलियाँ

यदि हम खोज करें कि समस्त जनता का अधिकतम हित, जो कि विधानीकरण की समस्त शैलियो का उद्देश्य होना चाहिये, यथार्थ रूप में क्या है तो हमें पता चलेगा कि यह दो मुख्य प्रयोजनो मे आकलित होता है, प्रथम उन्मुक्ति और दूसरे समता। उन्मुक्ति इसलिये क्योकि व्यक्तिगत परतन्त्रता से उसी मात्रा में राज्य की आकलित शक्ति का ह्रास होता है, और समानता इसलिये कि उन्मुक्ति समानता के बिना जीवित नही रह सकती।

मै पहिले ही बता चुका हूँ कि जानपद उन्मुक्ति का क्या अर्थ है, जहाँ तक समानता का सम्बन्ध है, इस शब्द का अर्थ यह नही होता कि शक्ति और धन की मात्रा पूर्णरूपेण समान हो, बल्कि यह कि जहाँ तक शक्ति का सम्बन्ध है, यह बिल्कुल हिंसात्मक नही होनी चाहिये और केवल विधान तथा पद के अनुसार प्रयुक्त होनी चाहिये, इसी तरह जहाँ तक धन का सबध है, कोई नागरिक इतना धनी नही होना चाहिये कि वह दूसरे को क्रय कर सके और न कोई इतना दरिद्र होना चाहिये कि वह अपने आपको विक्रय करने को बाध्य हो जाय। यह सम्भाव्य होने के लिये बडो मे सम्पत्ति तथा प्रभाव की अनतिता और साधारण नागरिको मे लोभ और लालसा का निरोध आवश्यक होता है।

सर्वसाधारण की यह धारणा है कि समानता परिकल्पना का एक भ्रम मात्र है जिसका व्यावहारिक कार्यों मे अस्तित्व नही होता। परन्तु यदि कुप्रयोग अनिवार्य है तो क्या इसका यह अर्थ है कि इसे विनियमित करने तक की चेष्टा अनावश्यक है? क्योकि परिस्थितियों का प्रभाव समता को निरतर विनष्ट करने में प्रवृत्त करता है, यथार्थ में इसी लिये विधान का प्रभाव समता को संधारण करने मे मददगार होना चाहिये।

परन्तु प्रत्येक हितकारी सस्था का उपर्युक्त साधारण प्रयोजन,प्रत्येक देश मे वहाँ की स्थानीय स्थिति तथा निवासियो के चरित्र से उत्पादित सबधो द्वारा सपरिवर्तित हो जाना अनिवार्य है और सम्बन्धो को ध्यान मे रखते हुए यह परमावश्यक हो जाता है कि हम प्रत्येक राष्ट्र के लिये विशिष्ट सस्था-पद्धति को निर्धारित करे जो चाहे स्वत. सर्वोत्तम न हो, परन्तु उस राज्य के लिये जिसके लिये यह निर्मित की गई है, सर्वोत्तम होगी। उदाहरणार्थ, यदि भूमि अनुपजाऊ और ऊसर हो, अथवा देश अपने निवासियो के लिये बहुत छोटा होता हो तो कला और निर्माण की ओर ध्यान दो, ताकि उत्पादित वस्तुओ का आवश्यक खाद्य पदार्थों से विनिमय किया जा सके। दूसरी ओर, यदि देश समृद्ध समतल भूमि और उर्वरा ढलवानी क्षेत्रो पर व्याप्त हो, अथवा उपजाऊ क्षेत्र मे यदि निवासी प्रजा की कमी प्रतीत हो तो अपना सम्पूर्ण ध्यान कृषि पर केन्द्रित करो जिससे जनसख्या बढ़ती है, और कला को बाहर निकालो जिसके कारण देश मे रहनेवाले थोडे से लोगो के चद प्रदेशो पर एकत्रित हो जाने से देश सर्वथा निर्जनसम हो जायगा। यदि तुम्हारा देश विस्तृत और सुगम समुद्रतट पर व्याप्त हो तो समुद्र पर जहाज चलाओ और वाणिज्य और नाववाहन का पोषण करो। इससे देश का स्थायित्व अल्प कालीन परतु देदीप्यमान होगा। यदि तुम्हारे तट के समीप समुद्र केवल अनभिगम्य शिलाओ से टकराता हो तो तुम मत्स्याहारी गँवार ही रहो। ऐसा करने मे तुम्हारा जीवन अधिक शातिमय, सम्भवत ज्यादा अच्छा परन्तु निश्चित रूप से अधिक सुखकारी होगा। एक शब्द मे, सर्वमान्य सिद्धातो के अतिरिक्त प्रत्येक राष्ट्र अपने आप मे कोई ऐसा निमित्त धारण करता है जो उसे एक विशिष्ट प्रकार से प्रभावित करता है और उसके विधानो को केवल अपने लिये ही उपयुक्त बना देता है। इस प्रकार प्राचीन युग मे यहूदी और वर्तमान युग मे अरब लोगो का मुख्य प्रयोजन धर्म था, एथेन्स के लोगो की कला, कार्थेज और टायर के लोगो का वाणिज्य, रोड्स के लोगो का नाववाहन, स्पार्टा के लोगों का युद्ध और रोम के लोगो का पराक्रम। L' Esprit de dois के लेखक ने अनेकानेक उदाहरणो द्वारा प्रदर्शित किया है कि विधिकार किस किस कला द्वारा किसी सस्था को प्रत्येक प्रयोजन की ओर निर्दिष्ट कर लेता है।

किसी राज्य का सविधान यथार्थ मे तभी दृढ और दीर्घजीवी हो सकता है जब उसके बनाने मे सुगमता का सिद्धान्त इस प्रकार समक्ष रखा गया हो कि प्राकृतिक सम्बन्धो एव विधानो का सम्मिलन समान बिन्दुओ पर ही हो और विधान प्राकृतिक सम्बन्धो को केवल सुरक्षित, समर्पित और सशोधित ही करते हो। परतु यदि विधिकर अपने उद्देश्य को ठीक न समझने के कारण, प्राकृतिक तथ्यो मे उत्पादित होनेवाले सिद्धात के

अतिरिक्त किसी सिद्धान्त को धारित करता है अथवा यदि एक का झुकाव अधीनता की ओर दूसरे का उन्मुक्ति की ओर, एक का धन की ओर दूसरे का जनसमूह की ओर, एक का शांति की ओर और दूसरे का विजय की ओर हो, तो हम देखेंगे कि अप्रत्यक्ष रूप से विधान अशक्त हो जायेंगे, संविधान परिवर्तित हो जायगा और राज्य लगातार आन्दोलित रहेगा जब तक कि वह विनष्ट अथवा बदल नहीं जाता और अजेय प्रकृति अपना प्रभुत्व प्राप्त नहीं कर लेती।

नोट—१ इसलिये यदि आप राज्य को स्थायित्व प्रदान करना चाहते हों तो दोनों नितांतताओं को एक दूसरे के इतना समीप ले आओ जितना संभाव्य हो सके, न धनिक लोगो को और न भिक्षुओं को सहन करो। उपर्युक्त दोनो स्थितियाँ जो प्रकृतितः एक दूसरी से पृथक् नहीं हो सकतीं, सर्वसाधारण हित को समानतः घातक होती हैं। प्रथम श्रेणी से अत्याचार की उत्पत्ति होती है, दूसरी श्रेणी से अत्याचारी का समर्थन करनेवाले की। इन्हीं दो श्रेणियों के बीच जन उन्मुक्ति का यातायात होता रहता है, एक उसे क्रय करता है एवं दूसरा विक्रय।

नोट—२ मार्क्विस दार्गासों का कथन है कि साधारणतः विदेशी वाणिज्य की कोई शाखा राज्य को मायावी लाभ ही प्रदान कर सकती है। यह कुछ विशिष्ट व्यक्तियो अथवा कुछ नगरो को लाभदायक हो सकता है, किन्तु समस्त राष्ट्र इससे कोई लाभ नहीं उठाता और जनता इसके कारण अधिक सम्पन्न नहीं होती।

# परिच्छेद १२

## विधानों का विभिन्नीकरण

सब वस्तुओं को विनियमित करने के लिये और समधिराज्य को सुन्दरतम रूप देने के लिये कतिपय सबध विचारणीय होते हैं। प्रथम ममस्त निकाय की अपने ही प्रतिक्रिया अर्थात् समस्त का समस्त से सबध अर्थात् प्रभु का राज्य से सबध और इस सबध के अन्तर्गत कई अन्तस्थ मर्यादाएँ होती है, जैमे हम अभी देखेंगे।

जो विधान इस उपर्युक्त सबध को निश्चित करते है उनका नाम राजनीतिक विधान होता है, उन्हे मूल विधान भी कहा जाता है और यदि वे विधान बुद्धियुक्त हो तो यह नाम अनुपयुक्त नही है। क्योकि यदि किसी राज्य को विनियमित करने की केवल एक विशिष्ट ही रीति है तो जिस राष्ट्र ने उसे परास्त कर लिया हो उसके लिये उसे दृढता से धारण करना ही उपयुक्त है, परन्तु यदि प्रतिष्ठापित व्यवस्था खराब हो, उन विधानो को जो इसे अच्छा बनने मे बाधक है, मूल विधान क्यो माना जाय ? इसके अतिरिक्त प्रत्येक दशा मे हर राष्ट्र को अपने विधानो को बदलने की स्वतत्रता होती है, अच्छे विधानो को भी बदलने की, क्योकि यदि कोई राष्ट्र अपनी क्षति करना चाहता हो तो उसे ऐसा करने मे रोकने का किसे अधिकार है ?

दूसरा मबध सदस्यों का एक दूसरे के प्रति अर्थात् समस्त निकाय के साथ होता है और उचित यह है कि यह सबध दूसरे सदस्यो के प्रति सकुचिततम और समस्त निकाय के प्रति विस्ततम हो, ताकि प्रत्येक नागरिक दूसरे नागरिको से पूर्णरूपेण स्वतत्र हो सके और राज्य के अनन्य रूप से अधीन हो सके। और इन दोनो की प्राप्ति के एक ही साधन हैं. क्योकि राज्य की शक्ति द्वारा ही नागरिको की स्वतत्रता परिरक्षित की जा सकती है। इस दूसरे सबध से व्यावहारिक विधानों का उद्भव होता है।

हम एक तीसरे प्रकार के सबंध पर भी विचार कर सकते है, वह होता है नागरिक और विधान के बीच में। इसका नाम है दडनीय आज्ञा-उल्लंघन का सबध,

और इससे दड विधान की स्थापना होती है, जो वास्तव में विधानों का कोई विशिष्ट वर्ग नही होता बल्कि दूसरे समस्त विधानो का आश्रय होता है।

इन विधानो के उपर्युक्त तीन वर्गों मे एक चौथा वर्ग भी जुड सकता है जो इन सबसे महत्त्वपूर्ण है और जो न सगमरमर पर और न पीतल पर खुदा हुआ है बल्कि नागरिको के हृदयो में अकित होता है। यह वह विधान है जिसके द्वारा राज्य के यथार्थ सविधान की उत्पत्ति होती है, जो प्रतिदिन नवीन स्फूर्ति प्राप्त करता है और जो जब दूसरे विधान जीर्ण अथवा अचलित हो जाते हैं उन्हे पुनर्जीवित करता है अथवा उनकी जगह अन्य प्रतिस्थापित कर देता है, प्रजा को उनकी सस्थाओ के सत्व मे परिरक्षित करता है और अप्रत्यक्ष रूप मे प्रभुत्व के स्थान पर व्यवहारबल प्रतिस्थापित कर देता है। मेरा तात्पर्य आचार, व्यवहार और सर्वोपरि मत से है और यह वह क्षेत्र है जिसे हमारे राजनीतिज्ञ जानते तक नही, परतु जिस पर अन्य सब आधारो की सफलता निर्भर होती है। महान् विधिकर इस क्षेत्र का वैयक्तिक रूप से अनुसधान करता है जब कि प्रत्यक्ष मे उसका ध्यान विशिष्ट नियमो मे सीमित होता है, जो केवल गुम्बज की चाप की तरह है और जिनकी स्थिर आधारशिला व्यवहार होता है, इस व्यवहार को उत्पादित होने मे समय लगता है।

उपर्युक्त विभिन्न वर्गों मे से केवल राजनीतिक विधान ही, जो शासकीय पद्धति को सस्थापित करते है, मेरे विषय से सबधित है।

# पुस्तक ३

शासन के विभिन्न रूपो का विवेचन करने से पूर्व शासन शब्द का स्पष्ट अर्थ स्थापित करना आवश्यक है। इस शब्द की अभी तक स्पष्ट व्याख्या नही हुई है।

# परिच्छेद १

## शासन, साधारण अर्थ में

मै अपने पाठको को चेतावनी देता हूँ कि वह इस परिच्छेद को ध्यानपूर्वक पढ़े, मुझे उन लोगो को समझाने की कला नही आती जो ध्यानपूर्वक पढने के इच्छुक नही हैं।

प्रत्येक स्वतत्र कार्य के दो कारण होते है जो सम्मिलित रूप मे इसका निर्माण करते है, प्रथम नैतिक अर्थात् वह प्रेरणा जिसके द्वारा वह कार्य निर्णीत होता है, दूसरा भौतिक अर्थात् वह बल जिसके द्वारा वह कार्य सपादित होता है। जब मै किसी वस्तु की तरफ चलता हूँ, तो सर्वप्रथम मुझे चलने की प्रेरणा होनी चाहिये, द्वितीयत' मेरे पगो मे मुझे उसके समीप ले जाने का बल होना आवश्यक है। यदि कोई स्तम्भ-रोगी दौडने का आकाक्षी हो, अथवा सचेष्ट मनुष्य ऐसा करने का अभिलाषी न हो, तो दोनो जहाँ हैं वही स्थित रहेगे। राजकीय निकाय की भी यही प्रेरक शक्तियाँ होती ह, इसमे भी बल और प्रेरणा की भिन्नता होती है। प्रेरणा का नाम विधायी शक्ति और बल का नाम अधिशासी शक्ति होता है। उन दोनो के सहयोग के बिना इस निकाल में न कुछ होता है और न कुछ होना चाहिये।

यह हम देख चुके है कि विधायी शक्ति लोगो मे निहित होती है और केवल इन्ही मे निहित हो सकती है। इसके विरुद्ध पूर्व मे स्थापित सिद्धान्तो के आधार पर यह देखना सरल है कि अधिशासी शक्ति विधायी अथवा सार्वजनिक शक्ति की तरह सामान्य लोगो मे निहित नही हो सकती, क्योकि विधायी शक्ति केवल उन्ही विशिष्ट कार्यों मे प्रन्यासित होती है जो विधान के अन्तर्गत नही आते और परिणामस्वरूप सार्व-भौमिक सत्ता के अन्तर्गत नही आते, सार्वभौमिक सत्ता के समस्त कार्य विधान होते है।

इसलिये सार्वजनिक बल के लिये एक ऐसे अनुरूपकारक की आवश्यकता होती है जो इसे एकाग्र कर सके और सर्वसाधारण प्रेरणा के निर्देशनो के अनुसार कार्यान्वित कर सके, जो राज्य और सार्वभौमिक सत्ता के बीच यातायात का साधन बना सके

और जो सार्वजनिक निकाय मे भी मनुष्य निकाय की भाँति किसी न किसी प्रकार जीव और देह का सम्मिलन स्थापित कर सके। राज्य मे शासन का यही कर्त्तव्य होता है जिसे कई बार गलती से सार्वभौमिक सत्ता के साथ सम्भ्रमित कर दिया जाता है, हालाँकि यह सार्वभौमिक सत्ता का केवल एक सहायक होता है।

तो *यथार्थ मे शासन होता क्या है ?* यह उस *अतस्थ निकाय का नाम है जो प्रजा* और सार्वभौमिक सत्ता के बीच पारस्परिक यातायात के हेतु स्थापित की जाती है और उसका *कर्त्तव्य होता है* विधानो को सम्पादित करना और सामाजिक एव राजनीतिक स्वतत्रता को परिरक्षित करना।

इस निकाय के सदस्य दडाधिकारी अथवा राजा अर्थात् शासक कहलाते है और समस्त निकाय का नाम शासनाधिकारी होता है। इसलिये यह प्रतिपादित करने-वाले बिलकुल ठीक है कि जिस क्रिया द्वारा लोग अपने आपको राजको के अधीन कर लेते है वह क्रिया पाषण का अग नही होती। यह क्रिया तो केवल आज्ञामात्र है, अर्थात् सेवायुक्ति है, जिसके अन्तर्गत सार्वभौमिक सत्ता के सामान्य कर्मचारियो के रूप मे वह लोग इसके नाम से वह शक्ति सम्पादित करते है जो सार्वभौमिक सत्ता ने इनमे निक्षिप्त कर दी है और जिसे सार्वभौमिक सत्ता, जब वह चाहे, सीमित कर सकती है, बदल सकती है और पुनर्ग्रहण कर सकती है। इस अधिकार का स्थायी रूपमे अन्यक्रामण कर देना सामाजिक निकाय के स्वभाव के प्रतिकूल होता है और साहचर्य के प्रयोजन के विरुद्ध होता है।

इसी लिये मैं शासन अथवा वरिष्ट प्रशासनाधिकार अधिशासक शक्ति के *न्यायसगत प्रयोग* को कहता हूँ, और *शासनाधिकारी अथवा दडाधिकारी* उस मनुष्य अथवा निकाय को कहता हूँ जो उपर्युक्त प्रशासन मे प्रवृत्त होती है।

शासन मे ही वे अन्तस्थ शक्तियाँ होती है जिनके पारस्परिक सबधो मे समस्त निकाय का समस्त के प्रति और सार्वभौमिक सत्ता का राज्य के प्रति सबध प्रदर्शित होता है। यह अतिम सबध सिलसिलेवार अनुपात के चरम बिन्दुओ के पारस्परिक सबध द्वारा भी निरूपित किया जा सकता है जिसका अनुपाती तुल्य बिन्दु शासन होगा। शासन स्वय सार्वभौमिक सत्ता से वे आदेश प्राप्त करता है जो वह लोगो को देता है, और राज्य को स्थायी साम्य देने के लिये यह आवश्यक है कि सब वस्तुओ के सतोलन के हेतु स्वत शासन के निजी उत्पादन तथा शक्ति और नागरिको के उत्पादन तथा शक्ति में समता हो, नागरिक एक रूप में सार्वभौमिक सत्ता और दूसरे मे प्रजा होते है।

अपरञ्च, उपर्युक्त तीनो शब्दों को उनका पारस्परिक अनुपात विनष्ट किये बिना परिवर्तित नही किया जा सकता। यदि सार्वभौमिक सत्ता प्रशासन करने लगे अथवा दडाधिकारी विधानीकरण करने लगे अथवा प्रजा आज्ञानुशासन से इनकार करे तो व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था हो जायगी, बल और प्रेरणा मे पारस्परिक मेल नही रहेगा और राज्य का विलयन होने से एकाधिकार अथवा अराजकता स्थापित हो जायगी। अन्त मे, क्योकि प्रत्येक सबध के बीच एक ही अनुपाती सतोलन बिन्दु होता है इसलिये राज्य मे केवल एक ही अच्छा शासन सभव होता है। परन्तु चूंकि लोगो के सबध हजारो घटनाओ द्वारा परिवर्तित हो सकते है इसलिये भिन्न शासन भिन्न राष्ट्रो के लिये अथवा भिन्न समय मे उसी राष्ट्र के लिये उत्तम सिद्ध हो सकते है।

दो चरम सीमाओ के बीच क्या भिन्न सबध हो सकते है, इसकी कल्पना देने के लिये मै लोगो की सख्या का एक उदाहरण लूंगा क्योकि इस सबध की व्यवस्था सुगमतम होगी।

हम यह मानकर चले कि राज्य मे दस हजार नागरिक है। सार्वभौमिक सत्ता को केवल सम्मिलित और निकाय के रूप मे ही कल्पित किया जा सकता है परन्तु प्रत्येक वैयक्तिक मनुष्य को प्रजा के रूप मे व्यक्ति कल्पित किया जाता है। इसलिये सार्वभौमिक सत्ता और प्रजा का सबध दस हजार और एक के अनुपात से होता है, अर्थात् राज्य का प्रत्येक सदस्य सार्वभौमिक सत्ता के दस हजारवे भाग का ही अधिकारी होता है, चाहे वह सार्वभौमिक सत्ता के सर्वथा अधीन भी हो। यदि राष्ट्र मे एक लाख मनुष्य हो तो प्रजा की स्थिति तो नही बदलती और प्रजा का हर सदस्य विधानो की समस्त शक्ति के आधीन होता है, परन्तु विधानो के निर्माण मे उसके मत का प्रभाव, एक लाखवाँ भाग हो जाने के कारण, दसगुना कम हो जाता है। इसलिये, प्रजा सदा एक इकाई होने के कारण सार्वभौमिक सत्ता का अनुपाती सबध नागरिको की सख्या के अनुसार बढ जाता है, जिसका यह अर्थ है कि जितना अधिक राज्य का विस्तार हो जाता है उतनी ही अधिक स्वतत्रता की क्षति होती है।

जब मै कहता हूँ कि अनुपाती सबध बढ़ जाता है तो मेरा अर्थ यह है कि यह समता से अधिक दूर हो जाता है। इसलिये रेखकीय अभिप्राय से जितना सबध अधिक होगा उतना ही सामान्य अनुमोदन से कम होगा, प्रथम दशा में सबध सख्या के आधार पर कल्पित होने के कारण सपरीक्षा द्वारा मानित किया जाता है और दूसरी दशा में ऐक्यात्म के आधार पर कल्पित होने के कारण सबध समानता से मानित किया जाता है।

इसलिये विशिष्ट प्रेरणायें सर्वसाधारण प्रेरणा से, अर्थात् रूढ़ियाँ विधानो से, जितनी सर्वधित होगी उतनी ही मात्रा में विरोधी शक्ति को बढ़ाना पड़ेगा। इसलिये प्रभावशील होने के लिये जैसे लोगो की सख्या अधिक मात्रा मे होगी उसी अनुपात से शासन को अधिक शक्तिशाली होना पडेगा।

दूसरी ओर, क्योकि राज्य के विस्तृत होने के कारण सार्वजनिक प्रभुत्व के धारको को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने की अधिक लालसा और अधिक साधन प्राप्त होते हैं इसलिये शासन को प्रजा पर नियंत्रण रखने के लिये अधिक बल की आवश्यकता होती है और इसी प्रकार सार्वभौमिक सत्ता को भी शासन पर नियत्रण रखने के लिये अधिक बल की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त विवेचन में मै निरपेक्ष बल की बात नही कहता हूँ बल्कि राज्य के विभिन्न अगो के सापेक्ष बल की बात कहता हूँ।

इस द्विपक्षीय सबध से यह सिद्ध होता है कि सार्वभौमिक सत्ता शासनाधिकारी और प्रजा के मध्य सतत अनुपात स्वेच्छाचारी कल्पना नही है परन्तु राजनीतिक निकाय के स्वभाव का अनिवार्य परिणाम है। यह भी सिद्ध होता है कि चरमबिन्दुओ मे से एक, अर्थात् लोग प्रजा के रूप मे, स्थिर होने और एक इकाई द्वारा निरूपित होने के कारण, जब जब द्विपक्षीय अनुपात बढ जाता अथवा घट जाता है तो उसी मात्रा में एकल अनुपात भी बढ जाता या घट जाता है और परिणामस्वरूप मध्यस्थ मर्यादा परिवर्तित हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि शासन का कोई सविधान निराला और निरपेक्ष नही हो सकता, परन्तु जितने भिन्न भिन्न विस्तार के राज्य होते हैं उतने ही भिन्न भिन्न प्रकार के शासन हो सकते हैं।

यदि प्रस्तुत शैली का उपहास करने की दृष्टि से यह कहा जाय कि अन्तस्थ अनुपात प्राप्त करने और शासन के निकाय का निर्माण करने के लिये मै यह प्रस्तावित करता हूँ कि लोगो की सख्या का वर्गमूल निकालना आवश्यक है तो मेरा उत्तर है कि इस प्रकरण में मै सख्या को केवल उदाहरण के लिये ही लेता हूँ, कि जिन अनुपातो की मै बात करता हूँ वे केवल मनुष्य-सख्या के आधार पर अनुमानित नही हो सकते परन्तु सामान्यत प्रक्रिया की मात्रा के आधार पर, जो अनेक कारणो के सम्मिलन के परिणामस्वरूप होती है। यदि थोड़े शब्दो मे अपने विचार प्रकट करने के लिये मैं रेखकीय मर्यादाओ का क्षणिक आश्रय ले लेता हूँ, तो मै इससे अनभिज्ञ नही हूँ कि रेखकीय सुथ्यता नैतिक मात्राओ मे सार्थक नही हो सकती।

शासन छोटे रूप में वही वस्तु है जो राजनीतिक निकाय, जिसके अन्तर्गत शासन का अस्तित्व है बृहत् रूप में होता है। यह एक नैतिक व्यक्तित्व है जो

कतिपय शक्तियों से सम्पन्न, सार्वभौमिक सत्ता की भाँति सचेष्ट, राज्य की भाँति अचेष्ट है और इसे अन्य उसी प्रकार के सबधो में विभाजित किया जा सकता है, उपर्युक्त के फलस्वरूप एक नया अनुपात स्थापित हो जाता है, और दडाधिकारी के क्रम के अनुसार एक अन्य नया अनुपात यहाँ तक कि अत में हम एक अभाज्य मध्यस्थ मर्यादा, अर्थात् एकल राजक अथवा वरिष्ठ दडाधिकारी, पर पहुँच जाते हैं जो इस बढते हुए क्रम के मध्य मे अपूर्णांको और पूर्णांको की माला में एक इकाई रूप है।

अपने आपको मर्यादाओ के इस बाहुल्य से व्याकुल न करते हुए हमे राज्य के अन्तर्गत शासन को एक ऐसा नवीन निकाय के रूप मे अवलोकन करने से सतुष्ट हो जाना चाहिये जो लोगो से और सार्वभौमिक सत्ता से भिन्न है परन्तु दोनों के अन्तस्थ है।

उपर्युक्त दोनो निकायो मे केवल यह महत्त्वपूर्ण अतर है कि राज्य स्वत वर्त्तमान होता है परन्तु शासन सार्वभौमिक सत्ता द्वारा ही स्थापित होता है। इसलिये शासनाधिकारी की प्रबल प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणामात्र अथवा विधान मात्र ही होती है और होनी चाहिये। इसका बल इसमे सकेन्द्रित सार्वजनिक बल ही होता है। ज्यो ही यह किसी सम्पूर्ण या स्वतत्र क्रिया को स्वत सपादित करने की अभिलाषा से युक्त हो जाती है, त्यो ही समस्त का सगठन ढीला होना प्रारम्भ हो जाता है। यदि शासनाधिकारी अन्त मे किसी ऐसी विशिष्ट प्रेरणा से युक्त हो जाय जो सार्वभौमिक सत्ता से अधिक सचेष्ट हो और यदि इस विशिष्ट प्रेरणा के अनुसरण पर बाध्य करने के लिये वह सार्वजनिक बल को, जो उसके अधीन होना है, इस प्रकार प्रयुक्त करने लगे कि यथार्थ मे दो सार्वभौमिक अधिकारियों का अस्तित्व स्थापित हो जाय, एक नैयायिक और दूसरा वास्तविक, तो सामाजिक सगठन तुरन्त नष्ट हो जाता है और राजनीतिक निकाय बिलकुल लुप्त हो जाता है।

अपरच, शासन के निकाय को एक अस्तित्व और एक ऐसा वास्तविक जीवन प्रदान करने के लिये, जो इसे राज्य के निकाय से भिन्न कर सके और इस हेतु शासन के सब सदस्य सम्मिलित रूप मे क्रियाशील हो सके और जिस प्रयोजन के लिये इसका निर्माण हुआ है, उसकी पूर्त्ति कर सके, यह आवश्यक है कि शासन का एक विशिष्ट व्यक्तित्व हो और इसके सदस्यो मे एक सामान्य अनुभूति हो और इसके परिरक्षण के लिये एक बल और निजी प्रेरणा हो। उपर्युक्त व्यक्तिगत अस्तित्व कल्पित करता है कि परिषदे, सभाएँ, विमर्श और सकल्प शक्ति, और शासनाधिकारी मे निहित कतिपय अपवर्जी अधिकार, उपाधियाँ और विशेषाधिकार हो, जिनसे दंडाधिकारी की स्थिति उसी अनुपात से अधिक सम्माननीय हो जाती है, जितनी यह अधिक दुस्साध्य होती है। कठिनाइयाँ

उस साधन के निरूपण करने में होती हैं, जिस द्वारा इस अधीनस्थ सम्पूर्ण को सम्पूर्ण के अन्तर्गत इस प्रकार स्थापित किया जा सके कि अपने आपको प्रबल बनाते हुए वह सर्वसाधारण सविधान को दुर्बल न बना दे, कि उसका अपना विशिष्ट बल जो उसके अपने परिरक्षण के लिये योजित है उस सार्वजनिक बल से विभिन्न रह सके जो राज्य के परिरक्षण के लिये सचितित होता है और एक शब्द मे,कि वह सदा इसके लिये उद्यत रहे कि शासन प्रजा के हित में स्वार्थत्याग करे न कि प्रजा से शासन के हित में स्वार्थ-त्याग करावे ।

अपरच, हालांकि शासन के कृत्रिम निकाय का निर्माण एक अन्य कृत्रिम निकाय द्वारा होता है और इसका अस्तित्व कई दृष्टियो से व्युत्पादित और अधीनस्थ होता है परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि शासन थोडी बहुत सचेष्टता से अथवा वेग से कार्य न कर सके, या यो कहिये कि पुष्ट स्वास्थ्य का थोडा बहुत उपभोग न कर सके । अत मे, अपने सस्थापन के प्रयोजन से स्पष्ट रूप मे विचलित हुए बिना, उसे इस रीति के अनुसार, जिससे उसका निर्माण हुआ है, थोडा-बहुत फेर-बदल करने की शक्ति होनी चाहिये ।

उपर्युक्त फेर-बदल से उन विभिन्न सबधो का प्रादुर्भाव होता है जिनको राज्य के निकाय से स्थापित करना शासन के लिये आवश्यक है ताकि उस आकस्मिक और विशिष्ट सबधो से अनुकूलता हो सके जिनसे स्वय राज्य परिवर्त्तित होता है । क्योंकि बहुधा स्वभावत उत्तमतम शासन भी परम दूषित बन जायगा यदि उसके सबध अपने राजनीतिक निकाय के दोषो से साथ साथ बदलते न रहेंगे ।

# परिच्छेद २

## वह सिद्धान्त जिसके आधार पर शासन के भिन्न रूप संकल्पित होते हैं

उपर्युक्त विभिन्नताओ के साधारण कारण की व्याख्या करने के लिये शासनाधिकारी और शासन मे अतर करना होगा, जैसे मैने पूर्व मे राज्य और सार्वभौमिक सत्ता में अतर किया है।

दडाधिकार निकाय के सदस्य अधिक अथवा न्यून हो सकते है। हम पहले कह चुके है कि जैसे जैसे लोगो की सख्या बढती जाती है सार्वभौमिक सत्ता और प्रजा का अनुपात सबध बढता जाता है और एक स्पष्ट सादृश्य के आधार पर हम शासन और दडाधिकारियो के सबध मे भी यही कह सकते है।

शासन के सपूर्ण बल मे, चूँकि यह तो हमेशा राज्य के बल का ही परिमाण है, कोई परिवर्तन नही होता, जिसका यह अर्थ है कि जितनी अधिक मात्रा में शासन इस बात को अपने सदस्यो के प्रति प्रयोग कर लेता है उतनी ही कम मात्रा समस्त प्रजा पर प्रयोग करने के लिये रह जाती है।

परिणामस्वरूप, जितनी अधिक सख्या दडाधिकारियो की होती है, उतना ही अधिक निर्बल शासन हो जाता है। क्योकि उपर्युक्त उक्ति आधारभूत है, इसलिए और स्पष्टता से व्याख्या करने की चेष्टा करते है।

हम दडाधिकार के निकाय मे तीन मूलत विभिन्न प्रेरणाओ मे अतर कर सकते है। प्रथम, दडाधिकारी की वैयक्तिक प्रेरणा जो केवल शासनाधिकारी के लाभ में ही प्रयुक्त होती है, द्वितीय, दडाधिकारियो की सम्मिलित प्रेरणा जो केवल शासनाधिकारीके लाभ से ही संबधित होती है और जिसे ससृष्ट प्रेरणा कहा जा सकता है, जो शासन के सबध मे सर्वसाधारण होती है, परन्तु राज्य के सबध में, जिसका

शासन एक खण्ड मात्र है, विशिष्ट होती है। तीसरे स्थान पर लोगो की प्रेरणा अथवा सार्वभौमिक प्रेरणा, जो राज्य को संपूर्ण मानते हुए और शासन को सपूर्ण का एक भाग मानते हुए, उभय के सबध में सर्वसाधारण होती है।

विधिकरण की परिपूर्ण सहृति में विशिष्ट और व्यक्तिगत प्रेरणा अपवर्ती होनी चाहिये। ससृष्ट प्रेरणा, जिसका होना शासन के लिये स्वाभाविक है, अधीन होनी चाहिये, और परिणामस्वरूप सर्वसाधारण अर्थात् सार्वभौमिक प्रेरणा को सदा प्रबल और अन्य सबके नियमन अधिकार युक्त होना चाहिये।

दूसरी ओर, प्राकृतिक क्रम के अनुसार, ये विभिन्न प्रेरणाये उसी मात्रा मे अधिक सचेष्ट हो जाती है, जितनी ये अधिक संकेन्द्रित होती है। इसलिये सर्वसाधारण प्रेरणा सबसे अधिक दुर्बल होती है, ससृष्ट प्रेरणा का दूसरा नम्बर आता है और विशिष्ट प्रेरणा का सर्वप्रथम नम्बर होता है, अर्थात् शासन मे प्रत्येक मनुष्य सर्वप्रथम अपने आप, तदनतर दडाधिकारी और तदनतर नागरिक होता है। यह क्रम उसके सर्वथा विपरीत है जिसकी सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

यदि यह मान लिया जाय कि समस्त शासन-शक्ति, किसी एकमात्र मनुष्य के हाथ मे है, तो विशिष्ट प्रेरणा और समृष्ट प्रेरणा सपूर्ण रूप से सम्मिलित हो जायगी और परिणामस्वरूप प्रेरणा की गहनता की मात्रा अधिकतम सभाव्य होगी। चूंकि प्रेरणा की गहनता की मात्रा पर ही बल का प्रयास अवलम्बित होता है और चूंकि शासन का सपूर्ण बल परिवर्तित होता ही नही इसलिए यह सिद्ध है कि सचेष्टतम शासन एकमात्र व्यक्ति शासन ही होता है।

इसके विपरीत यदि हम शासन को विधायी शक्ति के साथ सम्मिलित कर दे, सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को शासनाधिकारी और सब नागरिको को दडाधिकारी बना दे तो ससृष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के साथ सभ्रमित होकर सर्वसाधारण प्रेरणा की अपेक्षा अधिक सचेष्ट न हो सकेगी और विशिष्ट प्रेरणा सपूर्णतया प्रबल रह जायगी इस प्रकार शासन, जिसका सम्पूर्ण बल सदा समान ही होता है, सापेक्ष बल और अचेष्टता के आधार पर निर्बलतम होगा।

ये संबध विवादरहित होते है और अन्य विचार इनको अधिक पुष्ट करने में सहायक होते है। उदाहरणार्थ हम देखते है कि जितना सचेष्ट प्रत्येक नागरिक अपने निकाय मे होता है उससे अधिक सचेष्ट दडाधिकारी अपने निकाय में होता है, जिसके परिणामस्वरूप विशिष्ट प्रेरणा सार्वभौमिक सत्ता के कार्यों की अपेक्षा शासन के कार्यों में

कही अधिक प्रभावी होती है, क्योंकि प्रत्येक दंडाधिकारी प्राय सदा ही शासन के किसी न किसी कृत्य से युक्त होता है जब कि प्रत्येक नागरिक व्यक्तिगत रूप में सार्वभौमिक सत्ता के किसी भी कृत्य से युक्त नही होता । इसके अतिरिक्त, जितना अधिक राज्य का विस्तार होता है उतना ही अधिक इसका वास्तविक बल बढ़ता है, हालांकि वह बल विस्तार के अनुपात से नही बढता, लेकिन जब तक राज्य का विस्तार वही रहता है तो दडाधिकारियों की सख्या को बढाना निरर्थक होता है, क्योकि ऐसा करने से शासन के वास्तविक बल मे वृद्धि नही हो जाती, शासन का बल तो वास्तव मे राज्य का बल होता है और उसकी मात्रा सदा समाश ही रहती है । इसलिए शासन का सपूर्ण और वास्तविक बल बढे बिना सापेक्ष बल और सचेष्टता कम ही होती है ।

अपरच, यह निश्चित है कि कार्य के सपादन का वेग अधिक व्यक्तियो के सपादन-कार्य में जुटने से कम हो जाता है, कि विवेक पर अधिक जोर देने से भाग्य का क्षेत्र कम हो जाता है और अवसरो को यो ही गुजरने दिया जाता है और कि अत्यधिक विवेचन के कारण विवेचन का परिणाम ही बहुधा लुप्त हो जाता है ।

मैंने अभी अभी सिद्ध किया है कि दडाधिकारियो की सख्या में वृद्धि होने के अनुपात से शासन दुर्बल हो जाता है और यह मै पहले से सिद्ध कर चुका हूँ कि जितनी अधिक सख्या मे प्रजा होती है निरोध बल को उतना ही बढाना आवश्यक है, जिसका अर्थ यह है कि दडाधिकारी और शासन का अनुपात प्रजा और सार्वभौमिक सत्ता के अनुपात से प्रतीपित होना चाहिये, अर्थात् जितना अधिक राज्य बढे उतना शासन को सक्षिप्त होना चाहिये, ताकि राजको की सख्या प्रजा की सख्या की वृद्धि के अनुपात से घट जाय ।

परन्तु मै केवल शासन के सापेक्ष बल की बात कहता हूँ, शासन की सचाई की नही । क्योकि विपरीतत दडाधिकारियो की जितनी अधिक सख्या होती है, उतनी ही अधिक मात्रा मे समृष्ट प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा के निकट होती है और एकमात्र दडाधिकारी के अधीन उपर्युक्त समृष्ट प्रेरणा, जैसा मै पहले ही कह चुका हूँ, एक विशिष्ट प्रेरणा का रूप होती है । इस प्रकार एक ओर की हानि दूसरी ओर का लाभ बन जाती है और विधिकर की कला इसमे निहित होनी है कि वह यह पहचान सके कि शासन के बल और प्रेरणा को, जो सदा अन्योन्य अनुपात मे होते हैं, परस्पर किस अनुपात से निर्धारित किया जाय ताकि वे राज्य के लिए अधिकतम हितकर सिद्ध हो ।

# परिच्छेद ३

## शासन का वर्गीकरण

पूर्वगत परिच्छेद मे देखा गया है कि शासन के विभिन्न प्रकारो और रूपो मे इनका निर्माण करनेवाले लोगो की सख्या के अनुसार अतर करना किसलिये आवश्यक है । वर्तमान परिच्छेद मे यह देखना है कि यह भिन्नीकरण किम प्रकार किया जाता है ।

प्रथमत , सार्वभौमिक सत्ता शासनभार को समस्त प्रजा मे व प्रजा के अत्यधिक भाग मे इस प्रकार न्यसित कर सकती है कि सामान्य नागरिक जनो की अपेक्षा ऐसे नागरिको का बाहुल्य हो जाय जो दडाधिकारी होगे । शासन के इस रूप को हम जनतत्र कहते है ।

अथवा, सार्वभौमिक सत्ता शासन को अल्पसख्यक हस्तो तक सीमित रख सकती है ताकि दडाधिकारियो की अपेक्षा सामान्य नागरिको की मख्या अत्यधिक हो, और इस प्रकार का नाम शिष्ट जनसत्ता होता है ।

अत मे, सार्वभौमिक सत्ता समस्त शासन को केवल एक एकल दडाधिकारी के हस्तो मे केन्द्रित कर मकती है जिससे शेष सब अपनी शक्तियाँ व्युत्पादित करते रहे । यह तीसरा प्रकार साधारणतम है और इसे एकाधिकार अथवा राजकीय शासन कहते है ।

यह उल्लेख आवश्यक है कि इन सब प्रकारो मे, कम से कम प्रथम दो प्रकारो मे, मात्राएँ सभाव्य होती हैं और इन मात्राओ का विस्तार भी काफी दीर्घ हो सकता है, यथा जनतत्र मे समस्त प्रजा को अधिकार दिये जा सकते है अथवा अधिकारो की सीमा आधी प्रजा तक रखी जा सकती है । इसी प्रकार, शिष्ट जन सत्ता, राज्य का विस्तार प्रजा के आधे भाग से लेकर न्यूनतम अनिश्चित सख्या तक हो सकता है । राजकीय सत्ता के भी कतिपय भाग बन सकते है । सविधान के अन्तर्गत स्पार्टा मे सदा ही दो

राजा रहते थे और रोम के साम्राज्य में एक ही साथ आठ सम्राट् तक हुए है और उस समय भी यह कहना सभव नही था कि साम्राज्य का विभाजन हो गया है। इस प्रकार एक ऐसा बिन्दु होता है जहाँ शासन का प्रत्येक प्रकार अगले प्रकार में सम्मिश्रित हो जाता है, और स्पष्ट है कि तीन सरल सज्ञाओ के अन्तर्गत ही वास्तव मे शासन के इतने भिन्न प्रकार हो सकते हैं जितने राज्य के नागरिक है।

इससे भी अधिक, एक ही शासन का कुछ दृष्टियो से, अलग अलग खडों मे विभाजन होना सभव होने के कारण, जिसमे एक का प्रशासन एक प्रकार से और दूसरे का अन्य प्रकार से होता हो, इन तीनो प्रकारों के मेल से मिश्रित प्रकारो की एक बडी सख्या बन सकती है जिनमे से प्रत्येक को सब सरल प्रकारो से गुणित किया जा सकता है।

सब युगो मे शासन का उत्तमतम प्रकार क्या है इस पर पर्याप्त चर्चा होती रही है परन्तु इस चर्चा मे इस तथ्य पर विचार नही किया गया कि प्रत्येक प्रकार किसी किसी विशिष्ट स्थिति मे उत्तमतम हो सकता है और अन्य स्थितियो मे दुष्टतम।

यदि विभिन्न राज्यो मे वरिष्ट दडाधिकारियो की सख्या नागरिको की अपेक्षा विलोम अनुपात से हो तो यह धारणा की जा सकती है कि साधारणतया जनतत्रात्मक शासन छोटे राज्यो के लिये उपयुक्त है, शिष्ट-जनसत्ता-राज्य मध्यम परिमाण के राज्यो के लिये और एकाधिकार शासन वृहत्-राज्यो के लिए, यह नियम तो तुरन्त सिद्धान्त से ही निरूपित किया जा सकता है, परन्तु उन असख्य परिस्थितियो का अनुमान करना कैसे सभव है जो इस नियम के अपवाद रूप होती है?

# परिच्छेद ४

## जनतंत्र[1]

विधान का निर्माण करनेवाला अन्यो की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से जानता है कि विधान को किस प्रकार कार्यान्वित और निर्वाचित करना चाहिये। उपरोक्त से ऐसा लगेगा कि विधान की सबसे सुन्दर व्यवस्था अधिशासी और विधायी शक्तियो के सम्मिलन से ही की जा सकती है परन्तु यही परिस्थिति कतिपय दृष्टियो मे प्रजातन्त्रात्मक शासक को अयोग्य बना देती है, क्योकि जिन वस्तुओ को अलग अलग रखना उचित है वे इस व्यवस्था मे अलग नही रहती है, और शासनाधिकारी और सार्वभौमिक सत्ता एक ही व्यक्ति होने मे मानो अनियमित शासन का आधार बन जाती है।

यह लाभप्रद नही है कि जो विधानो का निर्माण करे वही उनको कार्यान्वित भी करे। न यह लाभकर होता है कि प्रजासमूह अपने ध्यान को साधारण विमर्श बिन्दुओ से हटाकर विशिष्ट प्रयोजनो पर केन्द्रित करे। सार्वजनिक कृत्यो पर वैयक्तिक हितो के प्रभाव की अपेक्षा कोई अन्य वस्तु अधिक भयावह नही होती, और शासन द्वारा विधानो का दुष्प्रयोग विधिकर के भ्रष्टाचार की अपेक्षा जो वैयक्तिक हितो के अनुसरण का अनिवार्य परिणाम होता है, कम दोषयुक्त नही है। क्योकि जब राज्य का सार ही बदल जाय तो संशोधन असंभव हो जाता है। जो लोग शासन का दुष्प्रयोग नही करते वे अपनी स्वतन्त्रता का भी दुष्प्रयोग नही करते, जो लोग सदा भली भाँति शासन चला सकते है उन्हे प्रशासित होने की आवश्यकता नही पडती।

१ प्लेटो के मतानुसार जनतंत्र समधिराज्य का एक दूषित प्रकार होता है जिसमें स्वातंत्र्य का अतिरेक होने से अनर्गलता उत्पन्न हो जाती है। देखिये रिपब्लिक ७ एरिस्टॉटल जनतंत्र को गणराज्य का दूषित रूप मानता था, देखिये पॉलिटिक्स ३—७

यदि इस शब्द का सही अभिप्राय लिया जाय तो यथार्थ जनतंत्र का न तो कभी अस्तित्व हुआ है और न ही कभी होगा। यह प्राकृतिक व्यवस्था के प्रतिकूल है कि बहुसंख्यक शासन करे और अल्पसंख्यक प्रशासित हो। यह कल्पित करना असंभव है कि लोग सार्वजनिक कृत्यो पर विचार करने के लिये शाश्वत परिषद् में एकत्रित रहें और यह तो स्वत: स्पष्ट है कि प्रशासन के ढंग को परिवर्तित किये बिना उपरोक्त कार्य के लिये आयोग स्थापित नही किये जा सकते।

वास्तव मे, मैं समझता हूँ कि यह सिद्धान्त के रूप में निर्धारित किया जा सकता है कि जब शासन के कार्य कतिपय अधिकरणो मे विभाजित हो जाते हैं तो अल्पतम संख्यक अधिकरण आज अथवा कल अधिकतम प्रभुत्व को प्राप्त कर लेते है, इसका कारण कार्य-सम्पादन की सुगमता होता है, जिसके कारण स्वाभाविक रूप से उपरोक्त परिणाम हो जाता है।

अपरंच इस शासन में प्राय: सभी ऐसी वस्तुएँ पूर्वकल्पित होती हैं जिनको सम्मिलित करना कठिन है। प्रथम एक बहुत छोटा राज्य जिसमे लोग शीघ्रता से एकत्रित हो जायँ और जिसमे प्रत्येक नागरिक अन्य सबको सुगमता से जान सके। दूसरे आचार की बहुत सादगी जिसके कारण कार्यों का बाहुल्य और तीखी चर्चाएँ बाधित हो जायँ, अपरंच पद और सम्पत्ति की पर्याप्त समानता जिसके बिना अधिकार और प्रभुत्व की समानता देर तक निर्वाहित नही हो सकती, और अंत मे विलास की न्यूनता अथवा अभाव क्योकि विलास या तो सम्पत्ति का फल होता है अथवा सम्पत्ति को आवश्यक बना देता है। सम्पत्ति धनी और निर्धन दोनो को भ्रष्ट कर देती है, धनी को सम्पत्ति के धारण के कारण और निर्धन को सम्पत्ति की लालसा के कारण। सम्पत्ति देश को पुरुषत्वहीनता और निस्सारिता की ओर ढकेल देती है, सम्पति एक व्यक्ति को दूसरे के अधीन बनाकर और सबको अभिमत के अधीन बनाकर राज्य को अपने सब नागरिको से वंचित कर देती है।

इसी लिए एक लेखक[1] ने गणतंत्र को सिद्धान्तशील बताया है, क्योकि उपरोक्त सब परिस्थितियाँ शील के बिना निर्वाहित नही हो सकती, परन्तु आवश्यक भेद न कर

१ यह प्रसिद्ध लेखक मान्टेस्क्यू है जिसने अपनी पुस्तक स्पिरिट आव् ला (५-१) में शील को गणतंत्र का सिद्धान्त बताया है, परन्तु इसी पुस्तक की प्रस्तावना में इस लेखक ने स्पष्ट किया है कि शील से उसका अर्थ

सकने के कारण उपरोक्त बुद्धिशाली लेखक में बहुता सुतथ्यता की दृष्टि से कभी कभी स्पष्टता की कमी रह गयी और वह यह नही देख सका कि सार्वभौमिक सत्ताधिकारी हर जगह समान होने के कारण प्रत्येक सुसगठित राज्य मे समान सिद्धान्त ही स्थापित होने चाहिये, चाहे शासन के रूप के अनुसार उनकी मात्रा न्यूनाधिक क्यो न हो जाय ।

यह कहना भी आवश्यक है कि कोई शासन गृहयुद्ध और आन्तरिक आन्दोलनो के इतना अधीन नही होता जितना कि प्रजातान्त्रिक अथवा लौकिक शासन, क्योंकि कोई अन्य शासन इतनी तत्परता और निरन्तरता से अपना रूप बदलने को प्रवृत नही होता, तथा कोई अन्य शासन अपने निजी रूप मे परिस्थापित रहने के लिये अधिक सतर्कता और साहस की माँग नही करता । इस सविधान मे विशेषकर नागरिक को धैर्य और बल से युक्त होना सर्वोपरि आवश्यक होता है और अपने जीवन के प्रत्येक दिन अपने पूर्ण हृदय से यह कहना आवश्यक होता है, जो एक शीलाचारी पैलेटाइन ने पोलैण्ड की परिषद् में कहा था कि "मै शान्तिपूर्ण दासत्व से शकायुक्त स्वतत्रता को अधिमान्य करता हूँ ।"

यदि देवो का कोई राष्ट्र होता तो उसका शासन प्रजातात्रिक होता । इतना परिपूर्ण शासन मनुष्यो के अनुकूल नही है ।

राजनीतिक शील, अर्थात् देशप्रेम और समानता प्रेम से है, जो न्यूनाधिक सब प्रकार के शासन में विद्यमान है । इसलिये रूसो का अवक्षेप उचित नहीं ।

ये शब्द पोलैण्ड के राजा के पिता ड्यूक डी रोरेन के हं ।

# परिच्छेद ५

## शिष्ट जनतंत्र

इस तत्र मे दो पूर्णतया भिन्न नैतिक अस्तित्व होते है, अर्थात् शासन तथा मार्वभौमिक मत्ता । इसके परिणामस्वरूप दो सर्वसाधारण प्रेरणाये होती है, एक का मबध सब नागरिको से और दूसरी का केवल शासन के मदस्यो से होता है, इसी लिए, यद्यपि शासन अपनी आन्तरिक नीति को इच्छापूर्वक नियमन कर सकता है, वह लोगो से मार्वभौमिक सत्ताधिकारी के रूप में कोई अतिरिक्त व्यवहार नही कर मकता, अर्थात् लोगो मे स्वत लोगो के नाम पर ही मबध स्थापित कर मकता है । उपरोक्त तथ्य कभी भुलाना नही चाहिये ।

आद्यतम ममाजो का शासन शिष्ट जनतत्रात्मक था ।[1] कुटुम्बो के प्रधान सार्वजनिक कृत्यो के सबध मे पारस्परिक विमर्श कर लिया करते थे । युवक लोग सुगमता मे अनुभव के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे । इसी वास्ते निम्न शब्द प्रयुक्त होते थे पुरोहित, वृद्ध लोग, शिष्ट सभा और वृद्ध समाज । उत्तरी अमेरिका के सभ्य लोग आज भी इसी प्रकार शासित होते है और उनका शासन बहुत अच्छा है ।

परन्तु ज्यो ज्यो सस्था द्वारा निर्धारित असमानता प्राकृतिक असमानता पर अविभावी होती गयी, सम्पत्ति और बल[2] को वय की अपेक्षा अधिमान्यता मिलने लगी और शिष्ट जनतत्र निर्वाचन पर आधारित हो गया । अत मे, पिता की सम्पत्ति के

**१ समाजशास्त्रियों की धारणा है कि राजतंत्र शिष्टजनतंत्रात्मक शासन से पहले है । देखिये मेन : ऐनशेन्ट लॉ चेप्टर प्रथम और अरिस्टाटिल :—पॉलिटिक्स १, २**

**२ यह स्पष्ट है कि प्राचीन लोगों में से शब्द (आप्टीमेट्स) का अर्थ उत्तमतम नहीं किया जाता था, बल्कि शक्तिशालीतम किया जाता था ।**

साथ साथ शक्ति भी बच्चों को पारेषित होने लगी, जिससे कुटुम्ब विशिष्ट हो गये, शासन पैत्रिक हो गया और सभासद बीस वर्ष तक की अवस्था के पुरुष बनने लगे।

इसलिए शिष्ट जनतत्र के तीन प्रकार होते है, प्राकृतिक, निर्वाचित और पैतृक। प्राकृतिक शिष्ट जनतत्र केवल सरल राष्ट्रो के लिये उपयुक्त होता है। पैतृक शिष्ट जनतत्र शासन का सबसे बुरा प्रकार होता है। निर्वाचित शिष्ट जनतत्र उत्तमतम है, और वास्तविक अर्थ में यही शिष्ट जनतत्र होता है।

पूर्व निर्दिष्ट दो अलग अलग शक्तियो के प्रभेद के अतिरिक्त शिष्ट जनतत्र मे एक और लाभ यह होता है कि यह अपने सदस्यो का चुनाव कर सकता है। लौकिक शासन में सब नागरिक जन्मत ही दडाधिकारी होते है परन्तु इसमें दडाधिकारियो की सख्या सीमित होती है, और वे केवल निर्वाचित ही होते है।[1] निर्वाचन एक ऐसी रीति है जिसके अन्तर्गत सत्यता, बुद्धि, अधिमान्यता और सार्वजनिक आदर के अनेक अन्य कारण इस बात की नवीन प्रतिभूति बन जाते है कि मनुष्यो पर बुद्धिमानी से प्रशासन होगा। अपरच, परिषदो के अधिवेशन अधिक सुगमता से बुलाये जा सकते है, कार्यों पर अधिक सुचारुता से विवेचन हो सकता है और अधिक क्रम और उद्यम से निर्णय हो सकता है। साथ ही विदेशो मे राज्य की मान्यता अज्ञात और घृणित जनसमूह की अपेक्षा आदरणीय सभासदो द्वारा अधिक उत्तम रूप में सहृत होती है।

एक शब्द मे, यह सबसे सुन्दर और सबसे स्वाभाविक वस्तु क्रम है कि सबसे बुद्धिमान लोग जनसमह पर प्रशासन करे, यदि यह निश्चित हो सके कि प्रशासन केवल उनके अपने हित मे न होकर जनसमूह के हित में होगा। अधिकार क्षेत्रो का निरर्थक बढाना ठीक नही, न यह ठीक है कि जो काम सौ निर्वाचित मनुष्य अधिक सुचारुरूप से कर सकते है उसे बीस हजार मनुष्यो से कराया जाय। किन्तु साथ ही इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि उपरोक्त दशा में ससृष्ट हित सार्वजनिक बल को सर्वसाधारण

१ विधान द्वारा दंडाधिकारियों के निर्वाचन का प्रकार नियमित करना बहुत आवश्यक है क्योंकि शासनाधिकारी की इच्छा पर इसे छोड़ने से पैतृक शिष्ट जनतंत्र की उत्पत्ति को रोकना असंभव हो जायगा। वेनिस और बर्न के गणराज्यों में ऐसा ही हुआ था। परिणामस्वरूप वेनिस देर से एक अधोम्मुखी राज्य है और बर्न केवल अपनी सभा की अत्यधिक बुद्धि द्वारा ही संधृत है। यह राज्य एक बड़े माननीय परन्तु भयानक अपवाद के रूप में है।

प्रेरणा के मार्ग पर क्रम निर्देशित करने लग जाता है, और एक अन्य अनिवार्य प्रवृत्ति विधानों को उनकी अधिशासी शक्ति से अंशत वंचित कर देती है।

विशिष्ट सुविधाओ के बारे में यह कहा जा सकता है कि राज्य इतना छोटा नही होना चाहिये और प्रजा इतनी सरल और सत्य नही होनी चाहिये कि विधानो का प्रवर्तन सार्वजनिक प्रेरणा के बिलकुल अनुकूल हो जैसे अच्छे प्रजातत्र में होता है। न ही राष्ट्र इतना विस्तृत होना चाहिये कि मुख्य पुरुष जो इस पर प्रशासन करने के लिये स्वभावत निसर्जित होते है, अपने प्रान्त मे सार्वभौमिक सत्ताधिकारी के रूप मे सस्थापित हो सकें और अत में स्वाधीन होने के लिये स्वतत्र होने की चेष्टा आरभ कर सके।

परन्तु यद्यपि शिष्ट जनतत्र लौकिक शासन के मुकाबले में कुछ कम शीलों की अपेक्षा करता है, फिर भी कुछ ऐसे भी शील है जिनकी विशिष्ट रूप से अपेक्षा इसी तत्र को होती है, उदाहरणार्थ धनिको मे अनतिता और निर्धनो मे सतोष। यह स्पष्ट है कि इस तत्र मे दृढ समानता अनुचित होगी। स्पार्टा तक मे भी इसका पालन नही हो सका।[1]

इसके अतिरिक्त यदि शासन का यह प्रकार सम्पत्ति की कुछ असमानता से युक्त होता है तो सामान्यत सार्वजनिक कार्यों का सपादन उनके सुपुर्द किया जाना वाछनीय है जो इस कार्य के हेतु अपना समस्त समय प्रदान कर सकते हो, न कि अरस्तू के कथनानुसार,[2] सदा ही धनिको को अधिमान्य करना। इसके विपरीत, यह महत्त्वपूर्ण है कि अन्य का निर्वाचन कभी कभी लोगो को यह सिखा सकता है कि मनुष्यो के वैयक्तिक गुणो मे धन के अतिरिक्त अधिमान्यता के और भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण हो सकते है।

१ रूसो स्पार्टा का प्रशंसक था, परन्तु स्पार्टा के संविधान का यह संयत चित्रण ठीक नहीं है। स्पार्टा के संविधान के वर्णन के लिये देखिये अरिस्टाटल पालिटिक्स २. ९

२ रूसो ने अरस्तू का अशुद्ध निर्वचन किया है, क्योंकि अरस्तू ने अपनी पुस्तक पालिटिक्स (३–१२, १३) में निम्न प्रकार लिखा है :—

"जन्म, स्वातंत्र्य तथा धन राजनैतिक शक्ति पर अध्यर्थन प्रदान करते हैं, परन्तु सर्वोच्च अध्यर्थन संस्कृति और शील से ही प्राप्त होता है।"

# परिच्छेद ६

## राजतंत्र

अभी तक हमने शासनाधिकारी को एक नैतिक और सामूहिक व्यक्ति के रूप मे अवलोकित किया है जो विधानो के बल द्वारा सघटित होता है और जो राज्य की अधिशासी शक्ति का प्रन्यासी है। अब हमे इस शक्ति को एक प्राकृतिक व्यक्ति अथवा एक वास्तविक पुरुष के हाथ मे केन्द्रित हुए अवलोकित करना है जिसे इस शक्ति के विधानो के अनुसार व्यवस्थापित करने का एक मात्र अधिकार होता है। वह पुरुष सम्राट् अथवा राजा कहलाता है।

प्रशासन के दूसरे प्रकारो के सर्वथा विपरीत जिनमे एक सामूहिक निकाय एक व्यक्ति का रूप धारण करता है, इस तत्र मे एक व्यक्ति सामूहिक निकाय का प्रतिनिधित्वकरता है,। परिणामस्वरूप जो नैतिक इकाई इसे निर्मित करती है वह साथ ही एक भौतिक इकाई भी हो जाती है जिसमे वे सब शक्तियाँ स्वभावत ही सन्निहित हो जाती है जो विधान चेष्टापूर्वक नैतिक इकाई मे एकत्रित करता है।

इस प्रकार लोगो की प्रेरणा, शासनाधिकारी की प्रेरणा, राज्य का सार्वजनिक बल और शासन का विशिष्ट बल सब एक ही प्रेरक शक्ति द्वारा गतिमान होते है, यत्र के सब पुर्जे एक ही हस्त के अन्तर्गत होते है, और सब वस्तुएँ उसी उद्देश्य की ओर प्रवृत्त होती है। कोई विरोधात्मक गतियाँ रहती ही नही जो एक दूसरे को प्रतिविहित करे, और संविधान का कोई अन्य ऐसा प्रकार कल्पित नही किया जा सकता जिसमे कम परिश्रम से इससे अधिक कार्य सम्पादित हो सके। समुद्रतट पर शान्तिपूर्वक बैठा हुआ और सुगमता से एक बडे जहाज को पानी मे उतराता हुआ आर्शीमिडीज[1] मुझे

**१ आर्शीमिडीज (बी० सी० २८७ : २१२) सीराक्यूज का एक महान् रेखा-गणितज्ञ और अभियन्ता था जो अपनी यांत्रिक युक्तियो के लिये प्रसिद्ध था।**

उस चतुर सम्राट् का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रतीत होता है जो अपनी कैबिनेट से अपने विस्तृत राज्य पर प्रशासन करता है और स्वय गतिरहित प्रतीत होता हुआ प्रत्येक वस्तु को गतिमान करता है।

परन्तु यदि राजतन्त्र से अधिक ओजस्वी और कोई शासन नही होता, राजतन्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य शासन में विशिष्ट प्रेरणा का इतना प्रभुत्व भी नही होता और न विशिष्ट प्रेरणा कही और अधिक सुगमता से दूसरो पर प्रशासन करती है। यह सत्य है कि राजतन्त्र मे प्रत्येक वस्तु एक ही प्रयोजन की ओर गतिमान होती है परन्तु यह प्रयोजन सार्वजनिक कल्याण नही होता और शासन की शक्ति स्वय ही निरतर राज्य के प्रतिकूल कार्यशील होती है।

राजा सम्पूर्णाधिकारी बनने के इच्छुक होते है और दूसरी ओर उन्हे निर्देशित भी किया जाता है कि सपूर्णाधिकारी बनने का सबसे उत्तम रास्ता प्रजा का प्रेमाधिकारी बनना है। यह उक्ति बहुत सुन्दर है और कतिपय अर्थों मे बहुत ठीक भी है परन्तु दुर्भाग्यवश राज्यसभा मे यह सदा उपहासित होती है। निस्सदेह प्रजा के प्रेम से उत्पन्न हुई शक्ति महानतम होती है परन्तु यह सदिग्ध और प्रतिबन्धात्मक होती है और राजा इससे कभी सतुष्ट नही हो सकते। सर्वोत्तम राजा भी अपने इच्छानुसार स्वामित्व लाये बिना दुष्ट होने की शक्ति प्राप्त करना चाहते है। राजनीतिक उपदेशक उन्हे व्यर्थ मे बताता रहेगा कि लोगो का सामर्थ्य उनका अपना ही होने के कारण यह उनके अपने हित मे है कि लोग सम्पन्न, सख्या मे अधिक और सामर्थ्यवान हो। राजा लोग जानते है कि यह तर्क असत्य है। उनका निजी हित प्रथमत यह है कि लोग निर्बल और दु खी हो और कभी भी उनका अवरोध न कर सके। यदि यह मान लिया जाय कि सब प्रजा निरतर पूर्णतया अनुवर्तनशील होगी तो मै मानता हूँ कि उस दशा मे राजक का हित यह होगा कि प्रजा शक्तिशाली हो ताकि उनकी शक्ति उसकी निजी होने के कारण पडोसियो के प्रति उसे सामर्थ्यवान बना सके। परन्तु क्योकि यह हित गौण और अधीनस्थ होता है और क्योकि उपरोक्त दोनो मान्यताएँ असगत होती है इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि राजक सदा उस सिद्धान्त को अधिमान्य करे जो उनके लिये निकटतम लाभप्रद हो। सैम्युअल ने यहूदियो को यही बात[1] दृढता से कही थी। मैकियावली[2] ने स्पष्टतया

१. देखिये १ सैमुएल अष्टम, ११ से १८ तक।

२. मैकियावली के गणराज्यवाद का प्रतिसमर्थन केवल रूसो ने ही नहीं

यही प्रमाणित किया था। जब वह राजाओं को शिक्षा देने का प्रदर्शन करता था, तो साथ ही प्रजा को भी महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ देता था। मैकियावली की पुस्तक "राजक" गणराज्यवादियो का आदि ग्रथ है।[1]

हमने सामान्य तत्त्वो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि राजतत्र केवल विस्तृत राज्यो के लिये ही उपयुक्त होता है और स्वत राजतत्र का विवेचन करने से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगे। जितनी अधिक सख्या में सार्वजनिक प्रशासनात्मक निकाय होगा उतना ही अधिक शासनाधिकारी का अनुपात प्रजा के सबध मे क्षीण हो जायगा और समानता के निकट पहुँचेगा, यहाँ तक कि प्रजातंत्र मे यह अनुपात इकाई अथवा समानता बन जाता है। परन्तु ज्यो ज्यों शासन सकुचित होता जाता है, यह अनुपात बढता जाता है और जब शासनाधिकार एक व्यक्ति के हाथ मे होता है तो यह अनुपात अपनी उच्चतम सीमा पर पहुँच जाता है। उस दशा मे शासनाधिकारी और प्रजा के बीच अत्यधिक फासला हो जाता है और राज्य मे सल्लाग का अभाव हो जाता है। तब राज्य को एकीकृत करने के लिये अन्तस्थ वर्ग स्थापित करने पडते है। यह अन्तस्थ वर्ग राजक, महाजन और शिष्ट जनो द्वारा निर्मित होता है। परन्तु छोटे राज्य के लिये यह सब कुछ समुचित नही है क्योंक इन सब वर्गों द्वारा तो इसके नाश की ही सभावना होती है।

किया है, दार्शनिक स्पिनोजा ने तथा इतिहासज्ञ हैलम ने भी इसी दृष्टि को मान्य किया है। देखिये स्पिनोजा : ट्रेटे पॉलिटीक तथा हैलम : लिट. आव् यूरोप, १—८.

१ मैकियावली एक सम्माननीय पुरुष और अच्छा नागरिक था, परन्तु मेडिची के कुटुम्ब से सलग्न होने के कारण अपने देश के कुसमय के दिनों में उसे स्वतंत्रता के लिये अपना प्रेम छिपाना पड़ा। अधम नायक (Cesare Borgia) को चुनने मात्र से ही उसका गुप्त अभिप्राय पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है और उसकी पुस्तक "राजक" के सिद्धान्तो और डिस्कोर्सेज आन टिटस लिविअस तथा हिस्ट्री आव् फ्लोरेन्स के सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध से प्रकट हो जाता है कि इस गंभीर राजनीतिज्ञ को पाठकों ने अभी तक केवल तलोपरिक और दूषित रूप में पढ़ा है। रोम के राज्य दरबार में इसकी पुस्तक का दृढ़ता से निषेध किया गया था। मै यह भली प्रकार जानता हूँ परन्तु रोम का राजदरबार ही तो वह है जिसका उसने इतने स्पष्ट रूप से चित्रण किया था।

परन्तु यदि विस्तृत राज्य के लिए सुचारु रूप से प्रशासित होना कठिन है तो किसी एक पुरुष द्वारा तो सुशासित होना और भी अधिक कठिन है, और यह तो सबको ज्ञात है कि जब राजा प्रतिराजाओं[1] को नियुक्त करता है तो उसका परिणाम क्या होता है।

एक सारभूत और अनिवार्य दोष, जिसके कारण गणतन्त्रात्मक शासन से राजतन्त्रात्मक शासन सदा ही अवर रहेगा, यह है कि गणतन्त्रात्मक शासन में सार्वजनिक मत के आधार पर वरिष्ट पदो पर ज्ञानयुक्त और योग्य पुरुष साधारणतया कभी आरूढ नही होते जो उन पदो का कार्य आदृत रूप मे कर सके। बल्कि जो राजतन्त्रात्मक शासन मे सफल होते है वे बहुधा केवल क्षुद्र, कुचेष्टाकारी, क्षुद्र शठ और क्षुद्र षड्यन्त्रकारी होते हैं जिनका क्षुद्र, चातुर्य, जिसके बल पर वे राजदरबार में वरिष्ट पदों को प्राप्त कर लेते है, पद प्राप्त करने के त्वरित उपरान्त ही जनसाधारण उनकी अप्रवीणता को प्रदर्शित कर देता है। राजा की अपेक्षा जनता का वरण बहुत कम भूलपूर्ण होता है और राजतत्री मन्त्रिमडल मे सुयोग्य पुरुष इतना ही बिरला दिखायी देता है जितना गणतन्त्रात्मक शासन के प्रमुख स्थान पर मूर्ख। इसलिए जब कभी सौभाग्य से राज्य-परम्परा मे कोई सुयोग्य शासक[2] जन्म जाता है और उपरोक्त मत्री-समूह द्वारा विनष्ट राज्य के कार्य सपादन करने लगता है तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसे क्या द्रव्य-साधन प्राप्त हो जाते हैं और उसका पदग्रहण देश में नया युग आरम्भ कर देता है।

राज्यतन्त्रात्मक राज्य सुचारु रूप से प्रशासित हो सके इस हेतु यह आवश्यक है कि उसकी विशालता और विस्तार शासक की शक्ति के अनरूप हो। विजय करना शासन करने की अपेक्षा सुगम है। पर्याप्त उत्तोलन दड होने से विश्व को एक उँगली से गतिमान किया जा सकता है, परन्तु इसे धारण करने के लिए हरक्यूलीज़ के कधो की जरूरत होती है। चाहे राज्य कितना ही छोटा हो राजक इसके लिए सदा ही अतिक्षुद्र होता है। परन्तु इसके विपरीत जब ऐसा लगे कि राजक के पास अतिक्षुद्र

१ रूसो का स्पष्ट निर्देश उन तीस प्राधीक्षकों (Intendants) की ओर है जो उस समय फ्रांस का प्रशासन करते थे।

२ ऐसा अनुमान किया जाता है कि रूसो का निर्देश duc de choiseul की ओर था।

राज्य है जो बहुत कम होता है तो भी प्रशासन बुरा ही रहता है, क्योंकि राजक अपनी विशाल सचिंतनाओ का अनुसरण करता हुआ प्रजा के हितो को भुला देता है और जितना कोई अवर शासक अपनी योग्यता की कमी के कारण प्रजा को अप्रसन्न करता है, इसलिए ऐसा कहना चाहिये कि राजक की क्षमता के अनुसार राज्य प्रत्येक शासन में घटता बढ़ता रहना आवश्यकीय है, परन्तु सभासदो की योग्यता निश्चित सीमाओ के अन्तर्गत कार्यशील होने के कारण गणतन्त्रात्मक राज्य स्थायी सीमाएँ प्राप्त कर सकता है और प्रशासन समान रूप मे सतोषप्रद हो सकता है।

एक मात्र व्यक्ति के शासन की सबसे स्पष्ट असुविधा यह है कि जैसे दूसरे दो शासन के प्रकारो मे सतत अनुक्रम हो जाता है इसमे अनुक्रम विघ्नरहित नही होता। एक राजा के मर चुकने पर अन्य आवश्यक होता है, यदि निर्वाचन से दूसरा निर्धारित करना हो तो भयावह समयान्तर उत्पन्न हो जाता है जो तूफानी होता है और यदि नागरिक अपक्षपाती और सच्चे न हो, जिसकी सभावना इस शासन मे बहुत नही है तो निर्वाचन में षड्यन्त्र और भ्रष्टाचार सम्मिलित हो जाते है। जिस मनुष्य को इस प्रकार राज्य विक्रय हुआ हो यह कठिन है कि वह स्वय भी इसका विक्रय न कर डाले, और जो धन अन्य शक्तिशाली लोगो ने उससे बलात् आदान किया था वह असहाय प्रजा से क्षतिपूरित न कर ले। ऐसे प्रशासन के अन्तर्गत कभी न कभी सब वस्तुयें धनभेद्य हो जाती है और राजा के अधीन शान्ति का उपभोग उस अवस्था मे अराजकत्वकाल की अव्यवस्था से भी बुरा होता है।

इन दोषो को दूर करने के लिए क्या किया गया है? मुकुट कतिपय कुटुम्बो मे पित्रगत् बना दिया जाता है और उत्तराधिकार का एक क्रम निर्धारित कर दिया जाता है जिससे राजा की मृत्यु पर कोई झगडा न हो। अर्थात् निर्वाचन की असुविधा के स्थान पर प्रतिराजमडलो की असुविधा प्रतिस्थापित कर दी जाती है, बुद्धियुक्त प्रशासन की अपेक्षा शान्ति की दिखावट को और अच्छे राजाओ के निर्वाचन मे युक्त विवाद का सकट उठाने की अपेक्षा बच्चो, राक्षसो और दुर्बलो को शासक बनाने का जोखिम उठाना पसन्द किया जाता है। लोग इस ओर काफी ध्यान नही देते कि उपरोक्त विकल्प के सकट उठाने मे उन्होने अपने आप को अत्यन्त कठिनाई मे डाल लिया है। पुत्र डाइनोसिस ने अपने पिता को जिसके द्वारा वह यह कहकर तिरस्कृत किया गया था कि क्या मैने तुम्हारे समक्ष इस प्रकार का कोई उदाहरण दिया है, बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर दिया है कि "पितृवर, आपका पिता राजा नही था।"

जिस मनुष्य का पालन पोषण दूसरो पर प्रशासन करने के हेतु होता है उसे न्याय और युक्ति से अपवञ्चित करने के लिये सब हेतु उत्पन्न हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि युवक राजको को शासन-कला सिखाने का काफी प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यह शिक्षा उन्हें लाभ देती प्रतीत नही होती। उन्हे आज्ञापालन-कला सिखाने से आरभ करना कही अच्छा हो। इतिहास ने जिन महानतम राजाओ की प्रशसा की है वे शासन करने के लिये प्रशिक्षित नही हुए थे, प्रशासन एक ऐसा विज्ञान है जिससे अत्यधिक अध्ययन के पश्चात् भी मनुष्य कुछ कम अनभिज्ञ नही रहते और इसकी अवाप्ति का अधिक सुन्दर मार्ग आज्ञापालन द्वारा होता है, प्रशासन द्वारा नही। अच्छी और बुरी वस्तुओ मे अन्तर करने का सबसे लाभप्रद और सबसे सुगम मार्ग यह है कि इस बात पर विचार किया जाय कि किसी अन्य राजक के आधीन आप क्या करना अनुमोदित अथवा अननुमोदित करते है।

सलाग के इस अभाव का परिणाम यह होता है कि राजतत्रात्मक शासन अस्थिर हो जाता है जो राज्याधिकारी राजक अथवा उसकी ओर से राज्य करनेवाले व्यक्तियो के चरित्र के अनुसार कभी एक योजना द्वारा नियमित और कभी अन्य योजना द्वारा नियमित होने मे एक स्थिर प्रयोजन का अथवा सगत आचरण-सिद्धान्त का किसी लबे समय के लिये अनुसरण नही कर सकता, इस अस्थिरता के कारण राज्य सिद्धान्तो और योजनाओ के मध्य डोलता रहता है। उपरोक्त स्थिति अन्य शासनो की नही होती जहाँ शासनाधिकारी सदा समान रहता है। इसी प्रकार साधारणतया यह देखने मे आता है कि राज्यदरबार मे अधिक चातुर्य और शिष्ट सभा मे अधिक बुद्धिमत्ता होती है और यह भी कि गणराज्य अपने प्रयोजनो को अधिक स्थिर और नियमित साधनो द्वारा अनुसरित करते हैं जब कि तमाम मत्रियो और तमाम राजाओ का यह सामान्य सिद्धान्त होने के कारण कि जो कार्य उनके पूर्वगामियो द्वारा सपादित हुआ है, उसे उत्क्रमित करना है, राजतत्रात्मक मत्री सभा का प्रत्येक परिद्रोह राज्य मे क्रान्ति उत्पन्न कर देता है।

सलाग के उपरोक्त अभाव से राजनीतिज्ञो के एक परिचित मिथ्यावाद का हल प्राप्त हो जाता है। यह मिथ्यावाद सामाजिक शासन की कौटुम्बिक शासन से तुलना करने मे निहित है जिसका हम पहले ही खडन कर चुके है परन्तु इसके अतिरिक्त यह मिथ्यावाद दडाधिकारी को उन सब गुणो से सपूर्णतया युक्त मान लेने की धारणा करता है जिनकी उसे आवश्यकता पडती है और उसकी मान्यता है कि राज्य स्वभावत मा हो जैसा उसे होना चाहिये। उपरोक्त मान्यता के आधार पर राजतंत्रात्मक

शासन अन्य प्रत्येक शासन-प्रकार से प्रत्यक्षतः अधिमान्य है, सिद्ध किया जाता है क्योंकि यह शासन निर्विरोध रूप से प्रबलतम तो होता ही है श्रेष्ठतम होने के लिये इसमें केवल उस ससृष्ट प्रेरणा की कमी है जो सर्वसाधारण प्रेरणा के सगत हो।

परन्तु यदि प्लेटो के अनुसार स्वभावत राजा बिरला ही व्यक्ति होता है तो प्रकृति और भाग्य का ऐसा सयोग कि वही व्यक्ति मुकुट को धारण भी करे कितनी बार हो सकता है ? और यदि राजकीय शिक्षा अनिवार्य रूप से शिक्षितो को भ्रष्ट कर देती है तो मनुष्यों के ऐसे अनुक्रम से जिन्हे प्रशासनार्थ ही प्रशिक्षित किया गया हो, क्या आशा की जा सकती है ? इसलिये राजतत्रात्मक शासन को एक अच्छे राजा के साथ सभ्रमित करना ऐच्छिक आत्मवचन मात्र है। यह शासन वास्तव में क्या है इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसे अयोग्य और दुष्ट शासको के अधीन अवलोकन करना चाहिये, क्योकि सिहासन पर इस प्रकार के राजा ही आरूढ़ होगे अथवा सिहासन उन्हें ऐसा बना देगा।

हमारे लेखक इन कठिनाइयो से अनभिज्ञ नही थे परन्तु वे उनसे व्याकुल नही हुए। उनका कथन है कि इन कठिनाइयो का प्रतिकार बिना असतोष प्रकट किये आज्ञापालन करने से होगा। ईश्वर जब नाराज हो जाता है तो दुष्ट राजाओ को जन्म देता है और हमें इन्हें ईश्वरीय ताडना के रूप मे सहन करना चाहिये। इस प्रकार की युक्ति निस्सदेह शिक्षाप्रद है परन्तु मेरी धारणा है कि यह युक्ति राजनीति की पुस्तक में लिखित होने की अपेक्षा धर्मोपदेश के स्थान से दिया जाना अधिक उचित होगा। ऐसे चिकित्सक के बारे में जो अद्भुत कार्य करने का वायदा करे और रोगी को धैर्य देने मे ही अपनी समस्त कला का प्रयोग करे, क्या कहा जा सकता है। हम समुचित रूप से जानते हैं कि जब हमारा शासन खराब होता है तो उसे सहन करना ही पडता है, प्रश्न हमारे सामने यह है कि अच्छा शासन कैसे प्राप्त किया जाय।

# परिच्छेद ७

## मिश्रित शासन

यथार्थ रूप मे सरल शासन होता ही नही। एक मात्र राजक को अधीनस्थ दडाधिकारियो की आवश्यकता होती है, और लौकिक शासन मे एक मुख्याधिकारी अनिवार्य है। इस प्रकार अधिशासी शक्ति के विभाजन में सदा बडी सख्या से छोटी सख्या की ओर अनुक्रम होता है, अतर केवल इतना है कि कई बार बहुसख्या अल्पसख्या पर निर्धारित होती है और कई बार अल्पसख्या बहुसख्या पर।

कई बार विभाजन समानता के आधार पर होता है, यह दो अवस्थाओ में होता है, प्रथम जब सघटक अग पारस्परिक निर्भरता में रहते हैं, यथा इग्लैण्ड के शासन मे, दूसरे जब प्रत्येक भाग का प्रभुत्व स्वाधीन परन्तु अपूर्ण होता है, जैसे पोलैण्ड में। उपरोक्त दूसरा प्रकार खराब होता है क्योकि शासन मे कोई ऐक्य नही होता और राज्य मे सलाग का अभाव होता है।

प्रश्न यह है कि सरल अथवा मिश्रित शासन अधिक अच्छा होता है। इस प्रश्न पर राजनैतिक लेखको मे प्रबल विवाद रहता है और इसका उत्तर वही देना उचित होगा जो मै पहले प्रत्येक शासन के प्रकार के सबध मे दे चुका हूँ।

स्वत सरल शासन उत्तमतर होता है, केवल इसी कारण कि वह सरल है। परन्तु जब अधिशासी शक्ति विधायी शक्ति पर पर्याप्त मात्रा मे निर्भर नही होती, अर्थात् जब शासनाधिकारी और सार्वभौमिक सत्ता मे प्रजा और शासनाधिकारी की अपेक्षा बडा अनुपात होता है तो इस अनुपात की असगतता को शासन के विभाजन से प्रतिकूल किया जाता है क्योकि ऐसा करने से प्रजा पर शासन के सब खडो का समान प्रभुत्व हो जाता है और उनके विभाजन के कारण उनका सम्मिलित बल सार्वभौमिक सत्ता के विरुद्ध क्षीण हो जाता है।

इस कठिनाई का प्रतिकार अतस्थ दडाधिकारियो के स्थापन द्वारा भी किया जा सकता है जो शासन को सपूर्ण रखते हुए दोनों शक्तियो · अर्थात् अधिशासी और विधायी शक्तियो में सतुलन स्थापित कर देते है और उनके भिन्न भिन्न अधिकार को परिरक्षित कर देते है । उस दशा मे शासन मिश्रित नही होता, बल्कि सयत होता है ।

इसके विपरीत कठिनाई को भी समान साधनों से ही प्रतिकृत किया जा सकता है, और जब शासन अत्यधिक शिथिल होता है तो इसे सकेन्द्रित करने के लिये धर्माधिकरण निर्मित किये जाते है । सब जनतत्रो में यही रूढि है । उपरोक्त प्रथम दशा मे शासन को निर्बल बनाने के लिये और दूसरी दशा मे प्रबल बनाने के लिये विभाजित किया जाता है, क्योकि बल और शिथिलता की अधिकतम मात्रा सरल शासनो मे ही पायी जाती है, इसके विपरीत मिश्रित शासन माध्यम बल प्रदान करते है।

# परिच्छेद ८

## प्रत्येक शासन का प्रकार प्रत्येक देश के लिये उपयुक्त नहीं होता

सब प्रकार की जलवायु में फलित न हो सकने के कारण स्वतन्त्रता सब लोगो को प्राप्त नही होती। मौंटिस्क्यू द्वारा सस्थापित उपर्युक्त सिद्धान्त को हम जितना ज्यादा देखते है उतना ही हम इसकी सत्यता का दर्शन करते हैं। जितना अधिक इस सिद्धान्त को विवादित किया जाता है उतना ही अधिक अवसर नये प्रमाणो द्वारा इसे स्थापित करने का मिलता है।

विश्व के सब शासनो मे सार्वजनिक व्यक्ति केवल उपभोग करता है परन्तु कुछ उत्पादित नही करता। जिस तत्व का उपभोग किया जाता है वह कहाँ से आता है? शासन के सदस्यो के श्रम से। सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्तियो द्वारा की हुई बचत से होती है जिससे यह सिद्ध होता है कि सामाजिक रचना तभी तक निर्वाहित हो सकती है जब तक मनुष्यो का श्रम उनकी अपनी आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन करता हो।

परन्तु उपर्युक्त अतिरेक विश्व के सब देशो मे समान नही होता, कुछ देशो मे अतिरेक की मात्रा बहुत अधिक होती है, अन्यो मे मध्यम, कुछ और मे शून्य और कतिपय में वियुत राशि मे। यह मात्रा निम्न कारणो पर आधारित होती है—जलवायु के कारण भूमि की उर्वरता पर, भूमि पर किस प्रकार का श्रम आवश्यक होता है उस पर, भूमि-उपज के प्रकार पर, निवासियो की शारीरिक शक्ति पर, निवासियो को अपने निर्वाह हेतु कम या अधिक उपभोग की आवश्यकता है इस पर, और इसी प्रकार के अनेक अन्य अनुपातो पर जो इसे निर्मित करते हैं।

दूसरी ओर, सब शासनो का स्वभाव समान नही होता। कुछ अधिक, अन्य कम मात्रा मे व्यर्थव्ययी होते है और इस अतर का आधार यह है कि सार्वजनिक अशदान

अपने स्रोत से जितनी दूर होते हैं उतने ही वे बोझल प्रतीत होते है। करो का भार उनकी मात्रा से अनुमानित नही किया जा सकता परन्तु उस फासले से जो उन्हें जिनसे वे एकत्रित किये गये हैं उनको लौटने के लिये पूरा करना पडता है, जब यह परिवहन सत्वर और सुचारु रूप से सस्थापित होता है तो कर की मात्रा अधिक है अथवा क्षीण इसका कोई महत्व नही रहता। लोग सदा सपन्न रहते हैं और राज्य-वित्त सदा वैभव-शाली रहता है। इसके विपरीत, लोग चाहे कितना ही कम कर दे, यदि यह कम मात्रा भी उन्हें प्रतिवर्तित न होती हो तो वे निरतर देने के कारण जल्दी ही उत्स्रावित हो जाते है, परिणामस्वरूप राज्य कभी सपन्न नही होता और प्रजा सदा भिक्षुवत् रहती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रजा और शासन के बीच का अतर जितना अधिक बढ़ जाता है शुल्क भी उतने ही अधिक दुर्वह हो जाते है। इसी लिये जनतत्र मे लोग न्यूनतम भारग्रस्त होते है, शिष्ट जनतत्र मे इससे अधिक और राजतत्र मे अधिकतम अधिभारित होते हैं। इसलिये राजतत्र केवल सपन्न राष्ट्रो के ही उपयुक्त होता है, शिष्ट जनतत्र ऐसे राज्यो के जो सपत्ति और विस्तार मे मध्यम हो और जनतत्र छोटे और निर्धन राज्यो के।

वास्तव मे, जितना ही हम ज्यादा इस पर विचार करते है उतना ही स्वतत्र और राजतत्रात्मक राज्यो मे यही अतर हमें प्रतीत होता है। स्वतत्र राज्यो मे प्रत्येक वस्तु सामान्य लाभ के हेतु प्रयुक्त होती है , राजतत्रात्मक राज्य मे सार्वजनिक और वैयक्तिक द्रव्य साधन अन्योन्य होते है अर्थात् वैयक्तिक द्रव्य साधनो की क्षति से सार्वजनिक साधनो की वृद्धि होती है। अत मे प्रजा को सुखी बनाने के हेतु उन पर प्रशामन करने की अपेक्षा प्रशासन करने के हेतु उन्हे दु खी बनाया जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक जलवायु मे नैसर्गिक कारण होते है जिनके आधार पर उस जल-वायु के स्वभाव के अनुरूप शासन का क्या प्रकार होगा यह हम निरूपित कर सकते है और कह सकते है कि उस देश मे किस प्रकार के निवासी रहने चाहिये। अनुपजाऊ और ऊसर क्षेत्रो को, जहाँ उपज श्रम का प्रतिशोधन नही कर सकती अकृष्ट और सपरि-त्यक्त रहना चाहिये अर्थात् केवल क्रूर लोगो द्वारा वासित होना चाहिये। वे क्षेत्र जहाँ मनुष्य का श्रम केवल आवश्यकताओ की पूर्तिमात्र करता है असभ्य राष्ट्रो द्वारा वासित होने चाहिये, उनमे कोई विधि स्थापित करना असभव होता है। वे क्षेत्र जहाँ उपज का श्रम से अतिरेक मध्यम मात्रा मे हो स्वतत्र राष्ट्रो के वास के हेतु उपयुक्त होते है , वे जिनकी प्रचुर और उर्वरा भूमि क्षीण श्रम से भी अधिक उपज उत्पादित करती है,

राजतन्त्र प्रशासन के हेतु उपयुक्त होते हैं ताकि प्रजा की बचत शासनाधिकारी के विलास में उपभुक्त हो सके। वैयक्तिक पुरुषों द्वारा लुटाये जाने की बजाय उस अतिरेक का शासन द्वारा शासित होना अधिक अच्छा है। मुझे ज्ञात है कि इस नियम के अपवाद हो सकते है, परन्तु ये अपवाद इस नियम को स्वत. सिद्ध करते हैं, क्योकि कभी न कभी वे उन क्रान्तियो को उत्पन्न करते हैं जिनके कारण वस्तुओं का नैसर्गिक क्रम सस्थापित हो जाता है।

साधारण विधानो का उन विशिष्ट कारणो से जिनके द्वारा उनके परिणाम सपरिवर्तित हो जाते है, भेद करना वाछनीय है। यदि समस्त दक्षिण मे लोकतन्त्र ही होते और समस्त उत्तर मे एकाधिकार राष्ट्र, तब भी यह कहना असत्य नही होता कि जलवायु के प्रभाव के अन्तर्गत एकाधिकार उष्ण देशों के उपयुक्त होता है, अराजकता शीत देशो, और सतुलित शासन अतस्थ क्षेत्रो के। परन्तु मै देखता हूँ कि सिद्धान्त को मान्य करके भी इसकी प्रयुक्ति पर विवाद होता है, उदाहरणार्थ यह तर्क किया जा सकता है कि कुछ शीत देश बहुत उपजाऊ है और कुछ दक्षिण स्थित देश बिलकुल अनुपजाऊ। परन्तु यह कठिनाई तो केवल उन्हे अनुभव होती है जो इस विषय को पूर्णरूपेण अवलोकित नही करते। जैसे मै पहले कह चुका हूँ श्रम, द्रव्यसाधन तथा उपभोग आदि से युक्त सब सबधो को सगणित करना आवश्यक है।

विस्तार मे समान दो मडलो की उपज, मान लो कि ५ और १० के अनुपात से है। यदि पहले मडल के निवासी चार खडो का उपभोग करे और दूसरे मडल के निवासी ९ खडो का, तो पहले की अतिरिक्त उपज का पाँचवाँ भाग व दूसरे का दसवाँ भाग रह जायगा। उपर्युक्त दोनो अतिरेको का अनुपात प्रत्येक की उपज के विलोमकृत होने के कारण वह मडल जिसकी उपज केवल पाँच है, दूसरे मडल से जिसकी उपज दस है दुगुनी बचत प्राप्त करेगा।

परन्तु यह प्रश्न दुगुनी उपज पर आधारित नही होता और मै नही मानता कि कोई व्यक्ति शीत देशो की उर्वरता को उष्ण देशो की उर्वरता के समान कल्पित कर सकता है। परन्तु यदि हम इस समानता को कल्पित भी कर ले, अर्थात् इगलिस्तान को सिसली के समान और पोलैण्ड को मिस्र के समान मान ले, तब भी और अधिक दक्षिण मे अफ्रीका और भारत होगे और अधिक उत्तर मे कुछ नहीं होगा। उपज की इस समानता के बदले सस्कृति की मात्रा मे कितना अन्तर प्रकट होगा। सिसली मे भूमि को खुरचना मात्र आवश्यक होता है परन्तु इगलैण्ड में इसे कर्षण करने के लिये कितने

श्रम की आवश्यकता है ? और जहाँ उसी उपज को प्राप्त करने के लिये अधिक श्रम की आवश्यकता पड़े यह स्पष्ट है कि बचत बहुत क्षीण रह जायगी।

इसके अतिरिक्त इसे ध्यान में रखना भी आवश्यक है कि उष्ण देशों में मनुष्यों की समान संख्या बहुत कम द्रव्य का उपभोग करती है। जलवायु की यह माँग है कि लोग स्वस्थ रहने के लिये सयत हो , जो यूरोपनिवासी उष्ण देशो मे अपने मूल निवास के समान रहना चाहते है, पेचिश और कब्ज से मर जाते है। शार्डिन कहता है कि "एशिया निवासियो की अपेक्षा हम लोग मासाहारी पशु और भेडिये हैं। कुछ लोग ईरानियो के संयम को इस तथ्य का परिणाम बताते ह कि उनके देश मे कृषि स्वल्प मात्रा में होती है परन्तु इसके विरुद्ध मेरी यह मान्यता है कि चूकि निवासियो को बहुत कम की आवश्यकता होती है इसलिए उनके देश मे खाद्य पदार्थों की प्रचुरता नही है। यदि उनकी मितव्ययता देश की निर्धनता का परिणाम होती तो केवल निर्धन लोग ही थोडा खाते परन्तु देश के सभी निवामी साधारणतया थोडा खाते है अथवा प्रत्येक प्रदेश मे भूमि की उर्वरता के अनुसार व्यक्ति अधिक अथवा न्यून उपभोग करते, परन्तु समस्त देश मे स्वल्पाहार की प्रथा दृष्टिगोचर होती है। वे लोग अपनी जीवनचर्या का बहुत गर्व करते है और कहते है कि हम ईसाइयो की अपेक्षा कितने उत्कृष्ट है। इसकी कल्पना करने के लिये केवल हमारे रगरूप को देखना पर्याप्त है। वास्तव मे ईरानियो का रंगरूप चिकना होता है, उनकी चमडी सुन्दर, नर्म और साफ होती है, हालांकि उनकी प्रजा आर्मीनियन्स का रगरूप जो यूरोपीय ढग पर रहते है, खुरदुग और चिकोत्ता होता है और उनका शरीर रुक्ष और स्थूल होना है।"

जितना हम भूमध्य रेखा के समीप पहुँचते है उतना ही लोग अपने जीवन के लिये कम उपभुक्त करते हैं। वे मास खाते ही नही। उनके साधारण खाद्य चावल, मकई, कुज कुज और कैसावा होते है। भारत में लाखो मनुष्य ऐसे है जिनकी दैनिक खुराक पर आधा पैसा भी नही खर्च होता। यूरोप मे भी हम उत्तरीय और दक्षिणीय राष्ट्रो की क्षुधा मे प्रत्यक्ष अतर देख सकते है। स्पेन का निवासी जर्मन निवासी के दैनिक भोजन पर आठ दिन तक निर्वाह कर सकता है। उन देशो मे जहाँ मनुष्य महाशनी है विलास उपभोग की वस्तुओ मे निहित होता है। इगलैण्ड मे विलास का प्रदर्शन भाँति भाँति के मास द्वारा भूषित मेज से किया जाता है, इटली मे उत्सव का माध्यम मिठाई और पुष्प होते हैं।

इसके अतिरिक्त कपडो के क्षेत्र मे भी विलास में यही अतर होते है। ऐसी जलवायु मे जहाँ ऋतुओ का परिवर्तन आकस्मिक और उग्र होता हो, पोशाक उत्तमतर और

सरलतर होती है, उस जलवायु में जहाँ लोग केवल सजावट के लिये कपड़ा पहनते हैं उपयोगिता की अपेक्षा शोभा का अधिक विचार होता है क्योंकि उस क्षेत्र में वस्त्रो का उपभोग ही एक विलास है। नेपल्स में आपको प्रतिदिन ऐसे मनुष्य दिखाई देंगे जो पोसिलिपो के मार्ग पर जरी के काढ़े हुए कोट पहने घूमते होंगे परन्तु नीचे कुछ नही। भवनो के सबध मे भी यही बात है, जब वायुमंडल से किसी क्षति का भय न हो तो शोभा के निमित्त अन्य प्रत्येक वस्तु त्याग दी जाती है। पेरिस और लदन मे लोगो के लिये गरम और सुविधाजनक भवन अनिवार्य होते हैं। मैड्रिड मे लोगो की बैठकें तो बहुत आकर्षक होती हैं परन्तु बन्द होनेवाली खिडकियो का निरन्तर अभाव होता है तथा वे सोते बहुत छोटी कोठरी मे हैं।

उष्ण देशो मे भोजन अधिक सारपूर्ण और पौष्टिक होता है, यह तीसरा अतर है जो दूसरे पर प्रभाव डाले बिना नही रह सकता। उदाहरणार्थ, इटली में लोग इतनी सब्जियाँ क्यो खाते है, क्योकि वे सुन्दर, स्वादिष्ट और पौष्टिक होती हैं। फ्रास मे सब्जियाँ केवल पानी पर ही उगती है इसलिये वे पौष्टिक नही होती और मेज पर उनकी कुछ गिनती नही होती। परन्तु उनकी उपज मे कम भूमि खर्च नही होती और उनकी कृषि मे उतना ही श्रम लगता है जितना और वस्तुओ के कर्षण मे। अनुभव से यह देखा जाता है कि बार्बरी के गेहूँ अन्य अर्थों मे फ्रान्स के गेहूँ से अवर होते हुए भी ज्यादा आटा प्रदान करते हैं और इसी प्रकार फ्रास के गेहूँ उत्तर के गेहूँ से ज्यादा आटा प्रदान करते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि यह अनुक्रम साधारणतया भूमध्य रेखा से ध्रुव तक उसी दिशा मे अवलोकित होगा। क्या समान उपज की मात्रा में पौष्टिक तत्त्व की न्यून मात्रा प्राप्त करना एक प्रत्यक्ष हानि नही है ?

उपर्युक्त विभिन्न विचारो मे मैं एक और विचार जोड सकता हूँ जो उनसे उद्गमित होता है और उनको प्रबल करता है वह यह कि उष्ण देशो मे शीत देशो की अपेक्षा निवासीगण की आवश्यकता कम होती है चाहे वे सधारण अधिकतर सख्या का कर सकते हैं , अत इन देशो मे दुगुनी बचत हो जाती है जिससे एकतत्र का हित सदा पूरित होता है। जितनी अधिक भूमि निवासियो की समान सख्या द्वारा व्याप्त होगी उतना ही अधिक कठिन राजद्रोह हो जायगा, क्योकि उपर्युक्त दशा मे सत्वर और योजनाबद्ध रूप से कार्य नही हो सकेगा और शासन के लिये योजनाओ का पता लगाना और मार्गों का अवरोधन करना अति सुगम हो जायगा , परन्तु अधिक जनसख्या जितने गहन रूप मे सवेष्टित होगी उतना ही अधिक शासन के लिये सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार प्राप्त करना कठिन होगा ; राजक अपने मन्त्रिमडल से इतनी निश्चिंतता से

मंत्रणा कर सकते हैं जितना कि शासनाधिकारी अपनी परिषद् से, और जनसमूह नगर चौकों में उतनी ही त्वरता से समवेत हो सकेगा जितनी त्वरता से सेना अपने निवासस्थान पर एकत्रित होगी। इसलिये अत्याचारी शासन को यह लाभ प्राप्त होता है कि वह बहुत फासलों पर काम करता है। सहायता बिन्दुओं की मदद से जिन्हें यह उपार्जित कर लेता है इसकी शक्ति उत्तोलन दंड की भाँति फासले के अनुपात से बढ़ जाती है।[1] इसके विपरीत प्रजा की शक्ति तभी प्रभावित होती है जब वह संकेन्द्रित हो[2], ज्योंही यह विस्तृत हो जाती है भूमि पर बिखरे हुए बारूद की भाँति, जिसे आग दाना दाना करके दगती है, यह शक्ति वाष्पवत् लुप्त हो जाती है। इसलिए न्यूनतम वासित देश अत्याचार के लिये सबसे अधिक उपयुक्त होते हैं, वन्य पशु केवल वनों में ही शासन करते हैं।

१ इससे जो बड़े राज्यों की असुविधा के संबंध में मैं पहले कह चुका हूँ (पुस्तक २, परि० ९) उसका प्रतिशोध नहीं होता, क्योंकि वहाँ शासन के अपने सदस्यों पर प्रभुत्व का प्रश्न था और यहाँ शासन की अपनी प्रजा के विरुद्ध शक्ति का प्रश्न है। शासन के बिखरे हुए सदस्य प्रजा पर फासले से क्रिया करने के हेतु सहायताबिंदु रूप में कार्य करते हैं परन्तु शासन को स्वत. सदस्यों पर क्रिया करने के लिये कोई सहायता के बिन्दु प्राप्त नहीं होते। इसलिए उत्तोलन दंड की लंबाई प्रथम दशा में दुर्बलता का और द्वितीय दशा में बल का कारण बन जाती है।

२ इस अभ्युक्ति पर ही मार्क्स ने अपनी महान् और न्याययुक्त धारणा स्थापित की, कि श्रमजीवी वर्ग को संकेन्द्रित करके पूंजीपति उसका राजनीतिक बल ही बढ़ाते हैं।

# परिच्छेद ६

## अच्छे शासन के चिह्न

इसलिए निरपेक्षत यह पूछना कि उत्तमतम शासन कौन-सा है, ऐसा प्रश्न उपस्थित करना है जिसका हल तथा निश्चयन असभव है , अर्थात् यो कहिये कि इस प्रश्न के इतने समुचित हल है जितने राष्ट्रो की निरपेक्ष तथा सापेक्ष स्थितियो के सभाव्य सयोजन ।

परन्तु यदि यह पूछा जाय कि किस चिह्न द्वारा यह ज्ञात हो सकता है कि कोई राष्ट्र विशेष सुचारु अथवा बुरे प्रकार से प्रशासित है तो अलग विषय होगा, और तथ्य के प्रश्न का निश्चयन करना सभव हो जायगा ।

परन्तु यह प्रश्न भी पूरी तरह व्यवस्थित नही हो सकता, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति इसका निर्णय अपनी दृष्टि के अनुसार करना चाहता है । प्रजा सार्वजनिक शान्ति की प्रशसा करती है, नागरिक वैयक्तिक स्वतत्रता की, प्रजा सम्पत्ति के परिरक्षण को अधिमान्य करती है, नागरिक शरीर के परिरक्षण को, प्रजा यह चाहती है कि उत्तमतम शासन कठोरतम हो, नागरिक चाहते है कि उत्तमतम शासन दयालुतम हो, एक पक्ष यह चाहता है कि अपराधो को दडित किया जाना चाहिये और दूसरा पक्ष चाहता है कि अपराधो का निवारण किया जाना चाहिये , एक पक्ष की मान्यता है कि पडोसियो द्वारा आशकित होना चाहिये, दूसरे पक्ष को यह अच्छा लगता है कि पडोसियो से अपरिचित ही रहे , एक पक्ष का सतोष द्रव्य के परिवहित रहने मे होता है, दूसरे पक्ष की माँग है कि लोगो के पास रोटी होनी चाहिये । यदि उपर्युक्त तथा अन्य बिन्दुओं पर मतैक्य भी हो जाय तो क्या अधिक प्रगति हो जायगी ? नैतिक गुणो के माप की कोई निश्चित रीति ही नही है , यदि लोग चिह्न के सबध मे सहमत भी हो जायँ, तो उस चिह्न के मूल्यांकन के सबध मे वे कैसे एकमत हो सकेगे ?

जहाँ तक मेरी धारणा का प्रश्न है, मै सदैव चकित होता हूँ कि लोग इतने सरल चिह्न को पहचानने में, असफल हों अथवा वे इसके संबध मे सहमत न होने का कपट करें। राजनीतिक साहचर्य का प्रयोजन क्या है ? अपने सदस्यो का परिरक्षण और वैभव; और इस तथ्य का कि वे परिरक्षित एव वैभवशाली है, सबसे निश्चित चिह्न क्या है ? यह है उनके अको का परिणाम और उनकी जनसख्या। इसलिये वह शासन अनिवार्य रूप से उत्तमतम है जिसके अतर्गत अन्य तथ्य समान रहते हुए बिना बाह्य सहायता के बिना देशीयकरण और उपनिवेशो के नागरिक बढ जाते और गुणित हो जाते है। वह शासन सबसे खराब है जिसके अतर्गत लोग न्यून हो जाते है अथवा विनष्ट हो जाते है। साख्यिको, अब यह आपका काम है कि आप सगणना करे, मापित करें और तुलना करें।[1]

१ उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही शताब्दियो का निर्णय होना चाहिये कि मानव जाति के वैभव की दृष्टि से कौन सी अधिमान्यता के योग्य है। साहित्य तथा कला के कर्षण के गुप्त हेतु को घोषित किये बिना, और इनके घातक परिणामो पर विचार किये बिना बहुधा उन शताब्दियो को प्रशसित किया गया है जिनमें साहित्य और कला का विकास होता दिखाई दिया, और "अनभिज्ञ लोगो ने इसे सभ्यता कहना आरभ किया हालाँकि यह उनके दासत्व का खंड मात्र ही था।" क्या हम कभी भी पुस्तको के सिद्धान्त में उस सकल निजी हित का पता न लगा सकेंगे जिसके कारण लेखकगण सिद्धान्तो को प्रस्थापित करते है ? इसके अतिरिक्त कोई क्या कहे, क्योंकि जब उनके देदीप्यमान कथन के समक्ष ही देश निर्जनीकृत हो रहा हो यह मानना असत्य होगा कि देश का कल्याण हो रहा है और किसी युग के सर्वोत्तम होने के लिये यह पर्याप्त नहीं है कि उसमें किसी कवि की आय एक लाख रुपये है। मुख्य पुरुषों के आभासी सुख और शान्ति को समस्त राष्ट्र में कल्याण तथा विशेषकर अति बहुसख्यक राज्यो की अपेक्षा न्यून समझना चाहिये। शिलावृष्टि कतिपय उपमंडलो को विनष्ट कर सकती है परन्तु यह दुष्प्राप्यता को सम्पादित नहीं करती। उपद्रव और गृहयुद्ध मुख्य पुरुषो को बहुत चकित करते है, परन्तु राष्ट्रों के वास्तविक दुर्भाग्यो का निर्माण नहीं करते, और जब इस पर विवाद चल रहा हो कि इन राष्ट्रो पर कौन अत्याचार करेगा, यह कलह और गृहयुद्ध बन्द भी हो सकते हैं। यह तो देशों की शाश्वत परिस्थिति से निर्धारित होता है कि उनमें वास्तविक वैभव अथवा संकट का निर्माण होगा; जब जुए के अधीन सबको दलित

किया जाता हो, तभी सर्वनाश होता है; मुख्य पुरुष फुरसत से उन्हें विनष्ट करते हुए जहाँ वे निर्जनता उत्पादित करते हैं उसे शान्ति पुकारने लगते हैं। जब मुख्य पुरुषों के कलह फ्रान्स के राज्य को क्षोभित कर रहे थे और पेरिस का सहायक पार्लियामेन्ट में जेब में खंजर रखकर जाता था तो भी फ्रांसीसी राष्ट्र के प्रसन्नतापूर्वक और संध्वनित होकर स्वतंत्र और सम्माननीय रहने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। इसी प्रकार प्राचीन यूनान अति निर्दयी युद्धों के बीच सर्वाधित होता गया ; नदियों में रक्त बहता था, और समस्त देश मनुष्यों से परिपूर्ण था। मैक्यावली ने कहा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि हत्याओं, बहिष्कारों और गृहयुद्धों के बीच हमारा गणराज्य अधिक शक्तिशाली हो गया; अपेक्षा इसके कि कलह इसे दुर्बल बनाते, नागरिकों के गुण, उनकी रीतियाँ और उनकी स्वतंत्रता इसे प्रबल बनाने में अधिक प्रभावशील हुए। थोड़ा सा आन्दोलन मनुष्यों के मस्तिष्क को चेतना देता है, और जो किसी जाति को वास्तविक रूप में वैभवशाली बनाती है वह शान्ति नहीं बल्कि स्वतंत्रता होती है।

# परिच्छेद १०

## शासन का दुरुपयोग और उसके नष्टधर्म होने की प्रवृत्ति

जैसे विशिष्ट प्रेरणा निरतर सर्वसाधारण प्रेरणा के विरुद्ध कार्य करती है उसी प्रकार शासन सार्वभौमिक सत्ता के विरुद्ध सतत् सचेष्ट रहता है। जितनी अधिक यह सचेष्टता बढ जाती है उतना ही अधिक सविधान सपरिवर्त्तित होता जाता है, और क्योकि इस दशा मे कोई ऐसी समष्ट प्रेरणा नही होती जो शासनाधिकारी का रोध करके इसके प्रति साम्य स्थापित कर दे तो आज अथवा कल ऐसा होना अनिवार्य है कि शासनाधिकारी सार्वभौमिक सत्ता को वश मे करके अन्त मे सामाजिक बन्ध का उल्लघन कर देगा। उपर्युक्त ही वह स्वाभाविक और अनिवार्य दोष है जो राजनीतिक निकाय की उत्पत्ति से ही इसे विनष्ट करने को सतत् प्रवृत्त रहता है जैसे वृद्धावस्था और मृत्यु मनुष्य-देह को अन्त मे विनष्ट कर देती है।

दो साधारण दशाएँ है जिनमे शासन भ्रष्टधर्म हो जाता है, अर्थात् जब शासन सकुचित होता है, अथवा जब राज्य लुप्त होता है।

शासन तब सकुचित होता है जब यह बहुसख्यक मे अल्पसख्यक को अर्थात् जनतत्र से शिष्ट जनतत्र को और शिष्ट जनतत्र से राजतत्र को प्राप्त हो जाय। यह शासन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।[1] यदि शासन अल्पसख्या मे बहुसख्या को प्रतीपगमन करता

**१ निज उपद्रवों में वेनिस का मंथर निर्माण तथा उसकी प्रगति उपर्युक्त अनुक्रम का एक विशिष्ट उदाहरण है और वास्तव में यह चकित कर देनेवाली बात है कि बारह सौ वर्ष के पश्चात् भी वेनिस के लोग अभी केवल दूसरी प्रक्रम में ही उपस्थित हैं जिनका आरंभ सन् ११९८ में ग्रेट कौंसिलों की समाप्ति से हुआ था। जहाँ तक प्राचीन ड्यूकों का संबंध है जिनके नाम से वेनिस वालों को तिरस्कृत किया जाता है यह प्रमाणित है कि** (Squittino della liberta veneta)

तो कहा जा सकता था कि शासन विस्तृत हो गया है, परन्तु ऐसा प्रतीयित गमन असभव है।

वास्तव मे शासन तब तक अपना रूप नही बदलता जब तक उसका तेज नि शेषित हो जाने के कारण वह स्वत को परिरक्षित करने हेतु अति निर्बल नही हो जाता। और जब शासन का प्रसार होने के साथ साथ वह शिथिल हो जाय तो उसका बल विनष्ट और उसका जीवित रहना कठिन हो जाता है। इसलिए जब शासन का तेज क्षीण होने लगे तो उसे सकेन्द्रित करना आवश्यक है, नही तो जिस राज्य को वह मधृत करता है वह ध्वसावशेष हो जायगा।

राज्य का विलयन दो प्रकार से होता है।

प्रथम जब शासनाधिकारी राज्य पर विधानानुसार प्रशासन करना छोड दे और सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार कर ले। तब एक विलक्षण परिवर्तन घटित होता है, अर्थात् न केवल शासन बल्कि राज्य सकुचित हो जाता है। मेरा अर्थ है कि महान् राज्य लुप्त हो जाता है। और इसके अतर्गत एक दूसरे राज्य की स्थापना हो जाती है जो केवल शासन के सदस्यो द्वारा ही निर्मित होता है और अन्य प्रजा की दृष्टि मे स्वामी और अत्याचारी के अतिरिक्त किसी और प्रयोजन की पूर्ति नही करता। इसलिये जब शासन सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार कर लेता है तो सामाजिक पाषण भग्न हो जाता है, और सब साधारण नागरिक अपनी स्वाभाविक स्वतत्रता को पुन प्राप्त कर लेने के कारण, आज्ञानशासन के लिये नीतिबद्ध नही रहते परन्तु बाध्य किये जाते हैं।

यही स्थिति तब उत्पन्न हो जाती है तब शासन के सदस्य अपनी शक्ति को जो सम्मिलित रूप मे प्रयुक्त करनी चाहिये, पृथक् रूप मे प्रयुक्त करने लगते है। इस स्थिति मे भी विधानो का उतना ही उल्लघन होता है और कही अधिक अव्यवस्था घटित होती है। ऐसा कहना चाहिये कि इस स्थिति में शासनाधिकारियो की सख्या दडाधिकारियो के बराबर हो जाती है और राज्य, शासन के समान ही विभाजित होने के कारण, विनष्ट हो जाता है और अपने रूप को बदल लेता है।

**कुछ भी कहे, वे उनके सार्वभौमिक सत्ताधिकारी नहीं थे। (इस पुस्तक का प्रकाशन १६१२ में हुआ था और इस प्रकाशन का मुख्य उद्देश्य यह था कि वेनिस गणराज्य पर सम्राट् के अधिकार सिद्ध किये जायें।)**

जब राज्य भग्न हो जाता है तो शासन का दुष्प्रयोग, उसका रूप कैसा भी हो, अराजकता का साधारण नाम धारित कर लेता है। स्पष्ट अतर करने के हेतु यह कहा जा सकता है कि भ्रष्टरूप प्रजातंत्र जनसकुल राज्य हो जाता है और भ्रष्टरूप शिष्ट जनतत्र अल्पजनशासित राज्य हो जाता है · मै जोडूंगा कि राजतत्र अत्याचार में कुपरिणत हो जाता है, परन्तु अत्याचार शब्द सदिग्धार्थक है और इसकी व्याख्या करना आवश्यक है।

लौकिक अर्थ में अत्याचारी ऐसे राजा को कहते हैं जो हिसा और न्याय और विधानों की उपेक्षा करके शासन करे। वास्तविक अर्थ मे अत्याचारी वह व्यक्ति है जो अनधिकार-जन्य प्रभुत्व को स्वत ग्रहण कर लेता है। यूनानी लोग अत्याचारी का प्रयोग इसी अर्थ में करते थे, वे अच्छे और बुरे सब राजको के लिये, जिनका प्रभुत्व न्याय हो, निरपेक्षरूप से इस शब्द को प्रयुक्त करते थे।[1] इसलिये अत्याचारी और बलाधिकारी यह दोनो शब्द पूर्णतया पर्यायवाची हैं।

भिन्न वस्तुओं को पृथक् नाम देने की दृष्टि मे, मै राजन्य प्रभुत्व पर बलाधिकार करनेवाले को अत्याचारी और सार्वभौमिक सत्ता पर बलाधिकार करनेवाले को स्वेच्छाचारी कहता हूँ। अत्याचारी वह होता है जो विधानो के विपरीत विधानानुसार प्रशासन करने का उत्तरदायित्व ग्रहण करे, स्वेच्छाचारी वह होता है जो स्वय विधानो के ऊपर स्वत को सस्थापित कर ले। इस प्रकार अत्याचारी स्वेच्छाचारी नही हो सकता परन्तु स्वेच्छाचारी सदा ही अत्याचारी होता है।

१. लोग मेरे मत का खंडन करने के हेतु रोम के गणराज्य का उदाहरण देने में संकोच नहीं करेंगे और कहेंगे कि इस गणराज्य ने बिलकुल विपरीत क्रम अनुसरित किया था, अर्थात् राजतंत्र से शिष्ट जनतंत्र और शिष्ट जनतत्र से प्रजातत्र बना था. परन्तु मै इस दृष्टि से सहमत नहीं हूँ।

रोम्यूलस द्वारा स्थापित प्रथम सस्था एक मिश्रित शासन था जो सत्वर ही स्वेच्छातंत्र में कुपरिणत हो गया। कुछ विशिष्ट कारणो से राष्ट्र समय के पूर्व ही विनष्ट हो गया जैसे हम कई बार नवजात शिशु को भोजन प्राप्ति के पूर्व ही मरता देखते हैं। गणराज्य की उत्पत्ति का वास्तविक युगारम्भ तार्क्विन्स का निष्कासन था परन्तु सर्वप्रथम इसने कोई नियमित रूप धारण नहीं किया क्योंकि कुलीन जाति को उत्साहित न करने के कारण इसका कार्य अभी आधी मात्रा में ही हुआ था। इस अवस्था में पैतृक शिष्ट जनतंत्र, जो न्यायी प्रशासनों का सबसे दोषपूर्ण रूप है, प्रजातंत्र के सतत विरोध में रहने के कारण स्वभावतः अनिश्चित और अस्थिर शासन, जैसे मैक्यावली ने प्रमाणित

किया है, केवल जनरक्षकों की सस्था पर आधारित किया गया। वास्तविक शासन और सच्चा जनतंत्र वहाँ तभी स्थापित हुआ। वास्तव में उस समय लोग न केवल सार्वभौमिक सत्ताधिकारी थे बल्कि दंडाधिकारी और न्यायधीश भी थे। शिष्ट सभा शासन को परिमित और सकेन्द्रित करने के लिये केवल एक और न्यायाधिकरण थी और स्वय राज्यपाल कुलीन वर्ग के एव मुख्य दंडाधिकारी होते हुए भी और युद्ध में पूर्ण सत्वाधिकारी प्रमुख होते हुए भी रोम में लोगों के केवल अध्यक्ष मात्र थे।

इसके अतिरिक्त उस समय से लेकर शासन अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का अनुसरण करता रहा और दृढ़ता से शिष्ट जनतन्त्र की ओर प्रवृत्त होता रहा। कुलीन वर्ग को अपने आपको विनष्ट कर लेने के कारण शिष्ट जनतंत्र कुलीन वर्ग के निकाय में निहित नहीं रहा जैसा वेनिस और जेनेवा में था, बल्कि कुलीन तथा सामान्य वर्गों द्वारा निर्मित शिष्ट सभा के निकाय में तथा न्याय रक्षको के निकाय में जब कि वे शक्ति का सचेष्ट रूप में बलाधिकार करने लगे, यह तत्र सन्निहित हुआ। शब्दो से तथ्यो के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं हो जाता और जब किसी राष्ट्र मे प्रशासन करने के लिये राजक होते हं, चाहे उनका कुछ भी नाम हो, वे एक शिष्ट जनतत्र का ही रूप होते हं।

२ "शिष्टजनतंत्र के दुष्प्रयोग से गृह युद्धो और त्रय शासनाधिकारियो का प्रादुर्भाव हुआ। सीला, जूलियस सीजर, औगस्टस, वास्तव में यथार्थ सम्राट् बन गये और अंत में टाबेरियस के स्वेच्छातत्र के अतर्गत राज्य भग्न हो गया। इस प्रकार रोम का इतिहास मेरे सिद्धान्त को असत्य सिद्ध नही करता है बल्कि इसकी पुष्टि करता है।

"वे सब अत्याचारी माने जाते हं और सबोधित किये जाते हे जो किसी ऐसे राज्य में जिसने स्वतन्त्रता का उपभोग किया हो, सतत शक्ति प्रयोग करने लगें।" यह सत्य है कि एरिस्टोटल अत्याचारी और राजा में यह भेद करता था कि अत्याचारी निजी हित के लिये प्रशासन करता है और राजा अपनी प्रजा के हित के लिये। परन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त कि सामान्यतः सब ग्रीक लेखको ने अत्याचारी शब्द को दूसरे अर्थो में प्रयुक्त किया है जैसे सेनोफन के हायरो से विशेषतया सिद्ध होता है। अरस्तू द्वारा किये गये भेद से यह भी सिद्ध होगा कि विश्व के आरंभ से लेकर अभी तक किसी राजा का अस्तित्व नहीं हुआ।

# परिच्छेद ११

## राजनीतिक निकाय का निधन

उत्तमतम निर्मित शासनो की यही स्वाभाविक और अनिवार्य वृत्ति होती है। यदि स्पार्टा और रोम नष्ट हो गये तो कौन राष्ट्र सदा टिकने की आशा कर सकता है। यदि हम स्थायी सविधान का निर्माण करना चाहते हो तो हमें इसे शाश्वत बनाने का स्वप्न नही देखना चाहिये। सफलता प्राप्त करने के लिये असभव की चेष्टा करना ठीक नही, न यह मिथ्याभिमान करना ठीक है कि हम मनुष्यो के कार्य को कोई ऐसी सान्द्रता प्रदान कर रहे हैं जो मानवीय वस्तुओ के लिये असम्भव है।

मानवीय शरीर की भाँति राजनीतिक निकाय का भी, उत्पत्ति के समय से ही, मरण शुरू हो जाता है और इसके अपने ही भीतर विनाश के कारण वर्तमान होते हैं। परन्तु दोनो का सविधान न्यूनाधिक पुष्ट और उन्हे अधिक या न्यून समय तक परिरक्षित करने के लिये सामर्थ्यवान हो सकता है। मनुष्य की रचना प्रकृति की क्रिया है, और राज्य का सविधान मानवीय कला की क्रिया है। मनुष्यो के लिये अपना जीवन बढाना सभव नही, परन्तु उत्तमतम सभाव्य सविधान के प्रदान करने से राज्य को दीर्घजीवी करना अवश्य सभव है। उत्तमतम-सविधान-प्राप्त राज्य का भी अत होगा परन्तु इतनी जल्दी नही जितना किसी अन्य का, यदि किसी अदृष्ट घटना से इसका समय के पूर्व विनाश न हो जाय।

राजनीतिक जीवन का सिद्धान्त सार्वभौमिक सत्ता के प्रभुत्व में निहित है। विधायी शक्ति राज्य का हृदय होती है, अधिशासी शक्ति इसका मस्तिष्क, जो सब भागो को गति प्रदान करती है। मस्तिष्क स्तभित हो जाने पर भी व्यक्ति जीवित रह सकता है। मनुष्य मूढमति होकर भी जीवित रह सकता है, परन्तु जब हृदय अपना कार्य छोड देता है, तो जीव मर जाता है।

राज्य विधानो से निर्वाहित न होकर विधायी शक्ति से निर्वाहित होता है। कल का विधान आज लागू नही रहता, तब भी मौन स्वीकृति मूकता से अनुमानित होती है और सार्वभौमिक सत्ता उन विधानो को निरतर पुष्ट करती हुई मानी जाती है जिन्हे शक्ति होते हुए भी यह निराकृत नही करती। जिस प्रकार की प्रेरणा सार्वभौमिक प्रेरणा द्वारा एक बार उद्घोषित कर दी जाती है वही प्रेरणा उसकी सतत् समझी जायगी जब तक कि वह इस उद्घोषणा को निरस्त न कर दे।

तो लोग प्राचीन विधानो के प्रति इतना आदर क्यो प्रदर्शित करते हैं? उनकी प्राचीनता के कारण यह मानने को बाध्य होना पडता है कि प्राचीन विधानो की उत्कृष्टता के कारण ही वे इतने लबे समय तक परिरक्षित रह सके है; यदि सार्वभौमिक सत्ता उन्हे निरतर रूप मे हितकर न समझती तो वह उन्हे हजारो बार निरस्त कर देती। इसी कारण प्रत्येक सुसविधित राज्य मे विधान दुर्बल होने के बजाय, हमेशा नवीन ओज अवाप्त करते रहते है, प्राचीनता की पक्षप्रतिकूलता प्रतिदिन उन्हे अधिक पूज्य बना देती है। इसलिए जहाँ पुराने होने पर विधान दुर्बल होने लगते हो, यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ विधायी-शक्ति का अभाव है और राज्य जीवित नही रह गया है।

# परिच्छेद १२

## सार्वभौमिक सत्ता किस प्रकार संधृत होती है (१)

विधायी शक्ति के अतिरिक्त सार्वभौमिक सत्ता का कोई अन्य बल न होने के कारण वह विधान द्वारा ही कार्यशील होती है , और विधान सर्वसाधारण प्रेरणा के प्रमाणित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ न होने के कारण सार्वभौमिक सत्ता तभी कार्यशील हो सकती है जब लोग समवेत हो । लोगो का समवेत होना, यह कहा जायगा कि, यह सर्वथा असभव है । आज यह असभव लगता है, परन्तु दो हजार वर्ष पूर्व यह असभव नही था । लोगो का स्वभाव कैसा परिवर्तित हो गया है ?

नैतिक वस्तुओ मे सभाव्य की सीमाएँ जितना हम समझते है उससे कम सकुचित होती है । यह हमारी निजी दुर्बलताएं, हमारे दोष और हमारी प्रतिकूलताएँ है जो उन्हे सकुचित बनाती है । मलीन आत्माएँ महान् पुरुषो के अस्तित्व को ही नही मानती , कपटी दास शब्द स्वतत्रता पर तिरस्कार भावना से हँसते है ।

जो पूर्व मे किया जा चुका है, उससे हमे यह समझना चाहिये कि आगे क्या किया जा सकता है । मै यूनानी प्राचीन गणराज्यो की बात नही करूँगा , परन्तु मेरी दृष्टि मे रोम का गणराज्य भी एक बडा राज्य था और रोम का नगर एक बडा नगर । रोम की अतिम जनगणना मे यह पता लगा कि नगर मे चार लाख नागरिक हथियार धारण किये हुए थे और साम्राज्य की अन्तिम गणना मे पता चला कि समस्त नागरिको की सख्या, प्रजा, विदेशी स्त्रियाँ, बच्चे व दास सम्मिलित किये बिना,चालीस लाख थी ।

हम अनुमान करेगे कि राजधानी और इसके उपातो की महान् जनसख्या को बारंबार समवेत करने मे कितनी कठिनाई होती होगी । परन्तु रोम के लोगो के सग्रहीत हुए बिना, और कई बार सग्रहीत हुए बिना, कुछ सप्ताह तक नही गुजरते थे । इसके अतिरिक्त, सग्रहीत लोग केवल सार्वभौमिक सत्ता के अधिकारो का ही प्रयोग नही करते थे, परन्तु शासन की कुछ शक्तियो का उपभोग भी करते थे । वे कतिपय

कार्यों पर विवेचन करते थे, कतिपय प्रकरणों का न्याय करते थे, और सार्वजनिक सभा में संग्रहीत लोग नागरिक होने के साथ साथ दंडाधिकारी रूप में भी कार्य करते थे ।

राष्ट्रों के आद्यकाल का अवलोकन करने से हमें पता चलता है कि अधिकतर प्राचीन शासनों में, यहाँ तक कि राजतंत्रात्मक शासनों मे भी, उदाहरणार्थ मैसेडोनिया और फ्रैंको मे, इसी प्रकार की सभाएँ थीं । यह एक मात्र निर्विवाद तथ्य सब कठिनाइयो को हल कर देता है । मुझे वास्तविक से सभाव्य का तर्क करना उचित प्रतीत होता है ।

# परिच्छेद १३

## सार्वभौमिक सत्ता किस प्रकार संधृत होती है (२)

समवेत जनसमूह द्वारा विधि-निकाय को स्वीकृत करके राज्य का सविधान एक बार स्थापित कर देना पर्याप्त नही है , न यह पर्याप्त है कि समवेत जनसमूह किमी शाश्वत शासन को मस्थापिन करे, अथवा दडाधिकारियो के निर्वाचन का सदा के लिये प्रावधान कर डाले । असाधारण सम्मेलनो के अतिरिक्त जो अदृष्ट घटनाओ मे आवश्यक हो जाते है, निश्चित और नियतकालिक सम्मेलनो का होना भी आवश्यक है जो किसी के द्वारा भी उत्सादित और सत्रावसित न हो सके ताकि नियत दिनाक को विधान के अन्तर्गत बिना किमी नियमित आह्वान की आवश्यकता हुए लोग साधिकार समवेत हो सके ।

परन्तु इन सम्मेलनो के अतिरिक्त जो इनके दिनाक के आधार पर न्यायसगत है प्रत्येक जनसमूह का सम्मिलन जिसे उस कार्य हेतु नियुक्त दडाधिकारियो द्वारा निर्धारित रीति के अनुसार न बुलाया गया हो, अवैधानिक मानना चाहिये, और जो कार्य इस सम्मेलन द्वारा सम्पादिन हुआ हो वह न्याय विरुद्ध मानना चाहिये , क्योकि सम्मिलित होने का आदेश भी विधान मे ही उद्‌गमित होना न्यायमगत होता है ।

जहाँ तक न्यायसगत सम्मेलनो के बार बार अधिवेशन का सबध है, उसका निर्धारण इतने अनेक विचारो पर आधारित होता है कि कोई निश्चित नियम स्थापित नही किया जा सकता । केवल साधारणतया इतना कहा जा सकता है कि शासन का जितना अधिक बल हो उतनी ही अधिक बार सार्वभौमिक सत्ता को अपना प्रदर्शन करना चाहिये ।

कोई कह सकता है कि यह किसी एकल नगर के लिये ही उत्तम हो सकता है परन्तु जब राज्य मे अनेक नगर हो तो क्या किया जायगा ? क्या सार्वभौमिक सत्ता का

विभाजन किया जायगा ? अथवा इसे किसी नगर मे सकेन्द्रित कर अन्य सबको इसके अधीन कर दिया जायगा ?

मेरा उत्तर है कि उपर्युक्त दोनो विकल्प अनावश्यक है। प्रथमत सार्वभौमिक सत्ता सरल और अविभक्त है और इसे विनष्ट किये बिना विभाजित नही किया जा सकता। दूसरे एक नगर राष्ट्र की तरह ही वैधानिक तौर पर किसी अन्य के अधीन नही हो सकता, क्योकि राजनीतिक निकाय का तत्त्व आज्ञानुशीलन और स्वतत्रता के सम्मेलन मे सन्निहित होता है और उपर्युक्त शब्द, अर्थात् प्रजा और सार्वभौमिक सत्ता, सहसबधित है, जिनके आधारभूत भाव एक शब्द नागरिक से व्यक्त होते है।

इसके अतिरिक्त मेरा यह उत्तर है कि अनेक नगरो को किसी एकल राष्ट्र मे सम्मिलित करना सदा दोषपूर्ण होता है और कि इस प्रकार का सम्मेलन स्थापित करने की अभिलाषा करते हुए हमे यह मिथ्याभिमान नही करना चाहिये कि हम इस सम्मेलन की स्वाभाविक असुविधाओ को वर्जित कर सकेगे। बडे राज्यो के दुष्प्रयोग किसी ऐसे मनुष्य के प्रति जो स्वय छोटे राज्यो का पक्षपाती हो, आक्षेप के रूप मे प्रस्तुत नही किये जा सकते, परन्तु बडे राज्यो का अवरोध करने के लिये छोटे राज्यो को पर्याप्त बल मे कैसे युक्त किया जा सकता है ? ठीक उसी प्रकार जैसे प्राचीन यूनानी नगरो ने महान् (ईरानी) राजा का अवरोध किया था और जैसे अभी हाल मे हालैण्ड और स्विट्जरलैण्ड ने आस्ट्रिया राज्य के वश का अवरोध किया है।

परन्तु, यदि राज्य को उचित सीमा तक घटाया नही जा सकता हो, तो एक अन्य रीति अपनाई जा सकती है। वह यह है कि कोई राजधानी न बनाई जाय बल्कि शासकीय अधिष्ठान प्रत्येक नगर मे बारी बारी से स्थापित रहे और क्रम से उन्ही नगरो मे देश की वर्ग-सभाएँ भी समवेत हो।

भूमि पर एकसम जनसख्या हो, हर जगह मे समान अधिकार प्रसारित हो और हर क्षेत्र मे बाहुल्य और चेतना व्याप्त हो, इस प्रकार राष्ट्र सबसे शक्तिशाली और श्रेष्ठतम प्रशासित बन जायगा। स्मरण रखो कि नगरो की भित्तियाँ देश के भवनो के अवशेष मात्र से ही निर्मित होती है। जब मै किसी राजधानी में किसी महल का निर्माण देखता हूँ तो मुझे किसी सपूर्ण खडित ग्रामीण क्षेत्र का ध्यान आता है।

# परिच्छेद १४

## सार्वभौमिक सत्ता किस प्रकार संधृत होती है (३)

ज्यों ही लोग सार्वभौम सभा के रूप में न्यायसगत रीति से सग्रहीत होते हैं, शासन के समस्त अधिकार रुक जाते है ; अधिशासी शक्ति स्थगित हो जाती है , और क्षुद्र-तम नागरिक का शरीर इतना प्रतिष्ठित और अनतिक्रम्य हो जाता है जितना कि मुख्य दडाधिकारी का, क्योकि जहाँ प्रतिनिहित स्वय उपस्थित होते है वहाँ किसी प्रतिनिधि का अस्तित्व नही रहता । रोम की परिषद् मे जो कोलाहल हुए, वे सब इस नियम के अज्ञान अथवा उपेक्षा के कारण हुए । स्थितिविशेष में राज्यपाल केवल लोगो के अध्यक्ष मात्र और न्यायरक्षक सुवक्ता मात्र रह गये थे[1] और शिष्ट सभा की कोई शक्ति नही रह गयी थी ।

स्थगन के यह मध्यान्तर जिनमें शासनाधिकारी किसी वरिष्ट के अस्तित्व को मानता है अथवा उसे मानना अनिवार्य हो जाता है, शासनाधिकारी द्वारा सदा त्रसित होते है , तथा लोगो की यह परिषदे जो राजनीतिक निकाय की ढाल और शासन की नियत्रक रूप होती हैं, वरिष्टाधिकारियो द्वारा सब युगो मे शकित हुई है । इसलिये ये वरिष्टाधिकारी नागरिको को परिषदो से विरक्त करने की चेष्टा मे उत्कठा, आपत्तियाँ, बाधाएँ और प्रतिज्ञाएँ सबका प्रयोग मुक्त हस्त से करते है । जब नागरिक लालची, डरपोक, दीन और स्वतत्रता की अपेक्षा अभिशयन के अधिक इच्छुक होते हैं, तो शासन की पुनरावृत्ति चेष्टाओ के विरुद्ध यह देर तक सधृत नही रह सकते , और इसलिए जैसे

१ प्रायः उसी अर्थ में जिसमें इस शब्द का प्रयोग अग्रेजी पार्लमेण्ट में किया जाता है । यदि समस्त अधिकार-क्षेत्र स्थगित भी कर दिये जाएँ, तो राज्यपालों तथा न्यायरक्षकों के पदों का सादृश्य मात्र उनमें संघर्ष स्थापित कर देता ।

जैसे अवरोधक शक्ति निरतर बढती जाती है उसी प्रकार अंत में सार्वभौमिक सत्ता लुप्त होती जाती है, तथा अधिकतर राज्य अपने समय के पूर्व ही क्षीण और विनष्ट हो जाते हैं।

परन्तु सार्वभौमिक सत्ता और स्वेच्छाचारी शासन के बीच कई बार एक मध्यस्थ बल का पुरस्थापन हो जाता है जिसका मुझे विवेचन करना चाहिये।

# परिच्छेद १५

## प्रतिनियुक्त गण अथवा प्रतिनिधि गण

ज्यो ही राज्य का सेवन नागरिको का मुख्य उद्यम नही रहता और वे अपने शरीर की अपेक्षा अपने धन से सेवा करने लग जाते है, राष्ट्र ह्रास के तट पर पहुँचा ही मानना चाहिये। युद्ध में सम्मिलित होने को प्रस्थान करना आवश्यक है ? वे सैनिको को वेतन देते है और स्वय घर पर रहते है, सभा मे जाना आवश्यक है ? वे प्रतिनियुक्तो को निर्वाचित कर देते है और स्वय घर पर रहते है। आलस्य और धन के परिणामस्वरूप अत में देश को दास बनाने के लिये वे सैनिको का, और देश को विक्रय करने के लिये प्रतिनियुक्तो का सस्थापन कर देते है।

वाणिज्य और कलाओ की व्यग्रता, लाभ का लालचयुक्त अनुसरण, नारीवत् कोमलता और सुखो का प्रेम, ये वस्तुएँ है जिनके कारण व्यक्तिगत सेवाएँ अर्थ द्वारा विनियमित की जाती है। लोग अपने लाभ का एक अश इस आशा मे त्याग देते है कि वे अपनी सुविधानुसार इसे बढा लेंगे। पैसा देना शुरू करो, और जल्दी ही दासत्व अवाप्त हो जायगा। वित्त शब्द ही दासत्व का शब्द है, नागरिक इससे अपरिचित होते है। ऐसे देश मे जो वास्तव मे स्वतत्र हो नागरिक प्रत्येक वस्तु को अपने हाथो से करते है, पैसे से नही। अपने कर्तव्यो से विमुक्त होने के लिये पैसा देने की अपेक्षा वे अपने कर्तव्यो को स्वत पूरा करने के लिये पैसा देते है। मेरे विचार साधारण विचारो से बहुत भिन्न है, मेरा विश्वास है कि बलात् श्रम करारोपण की अपेक्षा स्वतत्रता के कम प्रतिकूल होता है।

जितना अधिक सुगठित राज्य होता है उतना ही अधिक नागरिको के मन मे सार्वजनिक कार्य वैयक्तिक कार्यों की अपेक्षा महत्वपूर्ण होते है। उपर्युक्त अवस्था में वैयक्तिक कार्यों की संख्या ही बहुत न्यून होती है, क्योकि सर्वसाधारण वैभव प्रत्येक व्यक्ति को इतना अधिक भाग प्रदान कर देता है कि लोगो के लिये अपनी वैयक्तिक चेष्टा

से प्राप्त करने के हेतु रह ही थोडा जाता है। सुशासित नगर-राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति परिषदो में उपस्थित होने को उद्यत रहता है, और दुश्शासित राज्य मे परिषदो मे उपस्थित होने के निमित्त कोई एक कदम भी नही उठाता, क्योकि उनकी कार्यवाही में किसी को दिलचस्पी नही होती, कारण यह है कि सबको पूर्वाभास होता है कि सर्व-साधारण प्रेरणा कार्यान्वित न होगी, और इसीलिये अत में वैयक्तिक विषयो मे सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित हो जाता है। श्रेष्ठ विधान श्रेष्ठतर विधानो का मार्गदर्शन करते है और दोषी विधान दोषीतर विधानो की ओर ले जाते है। ज्यो ही कोई व्यक्ति राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में यह कहने लगे कि "मेरे लिये उनका क्या महत्त्व है?" हमें समझ लेना चाहिये कि राज्य विनष्ट हो गया है।

राष्ट्र को परिषदो मे लोगो के प्रतिनियुक्तो अथवा प्रतिनिधियो की योजना स्वदेशप्रेम के ह्रास के कारण, वैयक्तिक हितो के सचेष्ट अनुसरण के कारण, राज्य के अत्यधिक विस्तार के कारण, विजय के कारण और शासन के दोषो के कारण प्रस्तावित हुई। कुछ देशो मे इसे तृतीय वर्ग कहने की धृष्टता की जाती है। अर्थात् पहिले दो वर्गों मे उन वर्गों के वैयक्तिक हितो को निहित समझा जाता है और केवल इस तीसरे वर्ग मे सार्वजनिक हित को नियासित किया जाता है।

उसी कारण से जिसके अतर्गत सार्वभौमिक सत्ता का अन्यक्रामण नही हो सकता, सार्वभौमिक सत्ता का प्रतिनिधित्व भी नही हो सकता, सारत सार्वभौमिक सत्ता सर्व-साधारण प्रेरणा मे निहित होती है और वह प्रेरणा प्रतिनिहित नही हो सकती, या तो यह प्रेरणा वही होती है या उससे भिन्न होती है, कोई मध्यम स्थिति नही हो सकती। इसलिये लोगो के प्रतिनियुक्त उनके प्रतिनिधि नही होते और न हो सकते है, वे केवल उनके आयुक्त होते है और उन्हे अतिम निर्णय करने का कोई अधिकार नही होता। प्रत्येक विधान जो स्वत लोगो द्वारा अनुसमर्थित न हुआ हो विधि-प्रतिकूल होता है, इसे विधान नही कहा जा सकता। अंग्रेजी राष्ट्र की धारणा है कि वे स्वतत्र है, परतु यह उनका भ्रम मात्र है, जब पार्लियामेट के सदस्यो का निर्वाचन हो रहा हो, तब वे स्वतत्र अवश्य होते है, परन्तु ज्योही सदस्य निर्वाचित हो गये तो राष्ट्र दास हो जाता है और अपना महत्त्व खो देता है। जो प्रयोग यह राष्ट्र स्वतत्रता के उन सक्षिप्त क्षणो का करता है उससे स्वतत्रता का ह्रास सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रतिनिधियो का निर्वाचन एक नयी कल्पना है; इसका आद्य सामततत्र से होता है—वह मूर्खता तथा अन्यायपूर्ण शासन जिसके अधीन मनुष्य-जाति अवनत होती है और मनुष्य का नाम अनादरित होता है। प्राचीन समय के गणराज्यो और राजतत्रो मे

भी लोग प्रतिनिधि कभी नही चुनते थे; उन्हे इस शब्द का ज्ञान न था। यह अद्भुत बात है कि रोम मे जहाँ न्यायरक्षक अत्यत पूज्य थे, इस बात की कल्पना तक नहीं आई कि वे (न्यायरक्षक) लोगों की शक्तियो पर बलाधिकार कर सकते है, और इतने बड़े जनसमूह के मध्य में उन्होने किसी एक सम्पूर्ण जनमत द्वारा पारित होनेवाले आदेश को स्वेच्छानुसार पारित करने की चेष्टा नही की। परतु जनसमूह द्वारा कई बार व्यग्रता उत्पादित हो जाती थी, जिसका अनुमान ग्राच्चि के समय की उस घटना से होता है जिसके अतर्गत नागरिको के एक भाग ने अपना मत अपने निवासस्थानो की छतो पर से अकित किया था।

जहाँ अधिकार और स्वतत्रता का सर्वोच्च महत्त्व होता है वहाँ असुविधाओ की कोई गणना नही है। उस बुद्धिशाली राष्ट्र मे प्रत्येक वस्तु का उचित मूल्याकन होता था, उसने लिक्टरो को वह कार्य करने की अनुज्ञा दी थी जो न्यायरक्षक करने का साहस नही करते थे, और लिक्टरो से कभी इसे यह भय नही हुआ कि वे कभी इसके प्रतिनिधियो के रूप मे कार्य करने की चेष्टा करेगे।

साथ ही यह स्पष्ट करने के लिये कि कभी कभी न्यायरक्षक राष्ट्र का कैसे प्रतिनिधित्व भी करते थे यह समझना पर्याप्त है कि शासन सार्वभौमिक सत्ता का किस प्रकार प्रतिनिधित्व करता है। विधान केवल सर्वसाधारण प्रेरणा की उद्घोषणा मात्र है, इसलिये यह स्पष्ट है कि विधायी क्षमता के क्षेत्र मे लोगो का प्रतिनिधित्व नही हो सकता, परतु अधिशासी शक्ति मे प्रतिनिधित्व हो सकता है और होना भी चाहिये, क्योकि अधिशासी शक्ति तो केवल विधान के प्रयोग किये हुए बल का नाम है। इससे स्पष्ट है कि सतर्क परीक्षण करने पर बहुत कम राष्ट्र विधानयुक्त पाये जाएँगे। परतु जो भी हो, यह निश्चित है कि न्यायरक्षक, जिनका अधिशासी शक्ति मे कोई भाग नही था, अपने पद के अधिकारो के आधार पर रोम के लोगो का प्रतिनिधित्व नही कर सकते थे, केवल शिष्ट सभा के अधिकारो पर अतिक्रमण करने के परिणामस्वरूप ही ऐसा सम्भव था।

यूनानियो मे, जो लोगो को करना होता था वे स्वय किया करते थे, वे निरतर सार्वजनिक स्थान पर एकत्रित हुआ करते थे। उनका जलवायु नर्म था, और वे लालची नही थे, दास लोग शारीरिक श्रम करते थे, नागरिको का मुख्य कार्य स्वतत्रता उपभोग था। वही सुविधाएँ प्राप्त न होने से, अब उन अधिकारो का परिरक्षण कैसे किया जा सकता है? आपके अधिक कठोर जलवायु के कारण आपकी आवश्यकताएँ अधिक

है[1]। वर्ष मे छ मास तक सार्वजनिक स्थान अनुपयोज्य होता है और खुली हवा में आपकी रुक्ष ध्वनि सुनी नही जा सकती; आप स्वतंत्रता के बजाय लाभ की अधिक अपेक्षा करते हैं और आप दु ख की अपेक्षा दासत्व से कम डरते हैं।

कोई आश्चर्य व्यक्त कर सकता है कि क्या स्वतंत्रता दासत्व की सहायता से ही सस्थापित हो सकती है? हो सकता है, क्योंकि चर्मबिन्दुएँ सम्मिलित हो जाया करती हैं। प्रत्येक वस्तु जो प्रकृति के अनुसार नही होती असुविधाकारक होती है, और सभ्य समाज में तो अन्य सब वस्तुओसे अधिक कुछ ऐसी अभागी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमे लोग अपनी स्वतत्रता को दूसरो की स्वतत्रता नष्ट करके ही परिरक्षित कर सकते हैं, और जिनमें दास को पूर्णतया दास बनाये बिना नागरिक पूर्णतया स्वतत्र नही हो सकता। स्पार्टा की यही परिस्थिति थी। वर्तमान राष्ट्रो, जहाँ तक आपका सबध है, आप किसी को दास नही बनाते, परतु आप स्वय दास हैं, आप दासो की स्वतत्रता के बदले अपनी निजी स्वतत्रता को बलिदान कर देते हैं। अपनी उपर्युक्त अधिमान्यता का आप निरर्थक मिथ्याभिमान करते हैं, मुझे तो इसमे मनुष्यत्व की अपेक्षा कायरता का अधिक अश लगता है।

मेरा उक्त कथन से यह अर्थ नही कि दास आवश्यक है, अथवा दासत्व का अधिकार न्यायसगत है, क्योकि मैंने तो इसके विपरीत ही प्रमाणित किया है, मैं केवल उन कारणो का उल्लेख करता हूँ जिनके अतर्गत अपने आपको स्वतत्र माननेवाले नवीन राष्ट्र प्रतिनिधियो को धारण करते है और प्राचीन राज्य धारण नही करते थे। कुछ भी हो, ज्योही कोई राष्ट्र प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है वह स्वतत्र नही रहता, इसका अपना अस्तित्व तक नही रहता।

सतर्क विचार के अनतर, मुझे लगता है कि सार्वभौमिक सत्ता के लिये समाज मे अपने अधिकारो का उपभोग करना नितात असम्भव होता है यदि राज्य बहुत छोटा न हो। परतु यदि राज्य बहुत छोटा होता है, तो क्या यह पराधीन न हो जायगा?

**१. किसी शीत देश में पूर्वीय लोगों की कोमलता और विलासप्रियता को अंगीकार कर लेने का अर्थ यह है कि देशवासी उन्हीं की तरह दासत्व ग्रहण करने को तैयार हैं और अनिवार्य रूप से पूर्वीय लोगों से भी अधिक इस दासत्व में स्थापित रहने को तैयार हैं।**

मेरी धारणा है कि नही। मै आगे चलकर प्रदर्शित करूँगा[२] कि किसी बड़े राष्ट्र की बाह्य शक्ति छोटे राज्य की सुविधाजनक रचना और सुन्दर व्यवस्था से किस प्रकार सगत की जा सकती है।

२. इस कार्य को मैं इस पुस्तक के उत्तर भाग में सम्पादित करने का विचार करता था। परन्तु विदेशीय सबंधों का विवेचन करते समय मै प्रसंघानों पर आ गया जो एक संपूर्णतः नवीन विषय था और जिसके सिद्धान्त मुझे अभी संस्थापित करने हैं।

# परिच्छद १६

## शासन का संस्थापन पाषण रूप नहीं होता

विधायी शक्ति के सुचारु रूप मे सस्थापित होने के अनन्तर अधिशासी शक्ति को भी सस्थापित करना आवश्यक होता है, क्योकि अधिशासी शक्ति, जो विशिष्ट कार्यो द्वारा क्रियाशील होती है और विधायी शक्ति का तन्वरूप नही होती, विधायी शक्ति से स्वभावत विभिन्न रखी जाती है। यदि सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को उसी रूप मे अधिशासी शक्ति देना सम्भव हो जाता तो विधान और तथ्य ऐसे सम्भ्रमित हो जाते कि क्या विधान है और क्या विधान नही है इसका निरूपण करना सर्वथा असम्भव हो जाता और इस प्रकार विकृत हुई राजनीतिक निकाय, जिस हिंसा का अवरोध करने के लिये इसका सस्थापन हुआ है, उसी का शिकार हो जाती।

सामाजिक पाषण के अतर्गत सब नागरिक समान होने के कारण, सब ही यह निर्धारित कर सकते है कि सबको क्या करना है, परतु किसी एक को यह निरूपित करने का अधिकार नही है कि कोई अन्य क्या करे, यदि वह स्वय भी उसी कार्य को करने को उद्यत नही होता। वास्तव मे यही अधिकार, जो राजनीतिक निकाय को जीवित और क्रियाशील रखने के लिये अनिवार्य है, सार्वभौमिक सत्ता, शासन को सस्थापित करके, शासनाधिकारी को प्रदान कर देती है।

कइयो ने यह मिथ्या तर्क किया है कि उपर्युक्त सस्थापन का विलेख लोगो और राजको के बीच, जिन्हे उन्होने अपने ऊपर स्थापित कर लिया है, एक पाषण रूप है, और यह कि इस पाषण द्वारा दोनो पक्षो मे यह अभिसम्विद किया जाता है कि किन शर्तो के अतर्गत एक पक्ष अधिशासन करने को और दूसरा पक्ष अनुज्ञापालन करने को बाध्य होगा। मुझे विश्वास है कि यह सर्वमान्य होगा कि पाषण करने की यह एक अद्भत रीति है। देखना चाहिये कि क्या उपर्युक्त स्थिति तर्कसगत भी है।

प्रथमत , वरिष्ट प्रभुत्व जैसे अनन्यक्रामित नही हो सकता वैसे ही सँपरिवर्तित भी नहीं हो सकता, इसे सीमाबद्ध करने का अर्थ इसे विनष्ट करना होता है। यह कल्पना कि सार्वभौमिक सत्ता किसी अन्य वरिष्ट को मान्य करे, हास्यास्पद और परस्पर-विरोधी होती है, किसी स्वामी की आज्ञानुसरण के लिये अपने आपको बद्ध करने में यह कल्पित होता है कि इसने पूर्ण स्वतत्रता को पुन प्राप्त कर लिया है।

इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि लोगो का किसी विशिष्ट व्यक्ति के साथ पाषण करना एक विशिष्ट क्रिया होगी जिससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त पाषण न विधान हो सकेगा और न सार्वभौमिक सत्ता की क्रिया, और परिणामस्वरूप यह अवैधानिक हो जायगा।

अपरच हम देखते है कि पाषण करनेवाले पक्ष केवल प्राकृतिक विधान के अतर्गत ही कार्यशील हो सकेगे और अपने अन्योन्य अभियुक्तियो के पालन के हेतु क्षेमरहित हो जाएँगे, यह धारणा सभ्य समाज के सर्वथा प्रतिकूल है। जो व्यक्ति शक्ति को धारण करता है वही सदा उसे कार्यान्वित करने की क्षमता रखने से तो गोया हम मनुष्य की उस क्रिया को पाषण का नाम दे रहे है जो वह किसी अन्य को निम्न कहने मे करता है, "मै तुम्हे अपनी समस्त सम्पत्ति देता हूँ और शर्त यह है कि तुम मुझे जो चाहो वापिस कर देना।"

राज्य मे केवल एक पाषण होता है और वह साहचर्य का पाषण; यही किसी अन्य पाषण को अपवर्जित कर देता है। किसी अन्य सार्वभौमिक पाषण की कल्पना ही नही की जा सकती जो इस मूल पाषण का अतिक्रमण रूप न होगी

# परिच्छेद १७

## शासन का संस्थापन

तो जिस क्रिया द्वारा शासन सस्थापित होता है उसे किस सम्बोधना के अन्तर्गत कल्पित करना चाहिये ? मै आरभ मे ही कह देना चाहता हूँ कि यह क्रिया मिश्रित है, जिसमे दो अन्य क्रियाएँ सयुक्त होती है, अर्थात विधान का प्रतिपादन तथा विधान का निष्पादन।

प्रथम द्वारा सार्वभौमिक सत्ता यह निर्धारित करती है कि शासकीय निकाय किस रूप मे स्थापित किया जाय, स्पष्टत यह एक वैधानिक क्रिया होती है।

द्वितीय द्वारा, जनसमूह राजकों को मनोनीत करता है जिनमे प्रस्थापित शासन न्यसित होनेवाला है। उपर्युक्त मनोनयन एक विशिष्ट क्रिया होने के कारण कोई द्वितीय विधान नही होता, परन्तु प्रथम विधान का केवल परिणामस्वरूप, और शासन का एक कार्य, होता है।

कठिनाई यह समझने मे आती है कि शासकीय निकाय के स्थापित होने के पहिले ही शासन का कार्य किस प्रकार सम्पादित हो सकता है, और लोग, जो केवल सार्वभौमिक सत्ता अथवा प्रजा ही होते है, किसी विशेष परिस्थिति मे शासनाधिकारी अथवा दण्डाधिकारी कैसे बन सकते है।

परन्तु इस स्थिति में राजनीतिक निकाय का एक ऐसा आश्चर्यजनक गुण प्रकट होता है जिसके द्वारा स्पष्टत परस्पर-विरोधी कृत्यो का समाधान हो जाता है। क्योंकि उपर्युक्त स्थिति सार्वभौमिक सत्ता के सहसा जनतत्र मे इस प्रकार परिवर्तित होने से उत्पन्न होती है कि बिना किसी सवेद्य परिस्थितिभेद के, और केवल समस्त से समस्त के नवीन सम्बन्ध द्वारा, नागरिक दण्डाधिकारी बनकर सर्वसाधारण कार्यों से विशिष्ट कार्यों के तथा विधान से निष्पादन के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते है।

सम्बन्ध का उपर्युक्त परिवर्तन केवल परिकल्पना की सूक्ष्मता नही है जिसका व्यवहार में उदाहरण न मिलता हो, यह अंग्रेजी पार्लिमेंट में प्रतिदिन घटित होती है, जहाँ अवर सदन समय समय पर कार्य को अधिक सुचारु रीति से करने हेतु महा समिति मे विघटित हो जाता है और एक क्षण पहिलेवाले सार्वभौम सम्मेलन के बजाय एक साधारण आयोग बन जाता है। इस प्रकार यह अपने आपको ही, लोकसभा के रूप मे, तनन्तर महा समिति मे किये गये निर्णयो का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है, और नये सिरे से उन्ही निर्णयो पर जो इसने एक रूप मे निर्मित किये थे अब अन्य रूप में विचार करता है।

जनतत्रात्मक शासन का यही विशिष्ट लाभ है कि यह सर्वसाधारण प्रेरणा के एक साधारण कृत्य द्वारा सस्थापित किया जा सकता है। तनन्तर अस्थायी शासन, यदि यही शासकीय रूप स्वीकृत हो, प्रवृत्त रहता है, अथवा सार्वभौमिक सत्ता के नाम पर विधान द्वारा सपादित शासन स्थापित कर देता है, और इस प्रकार सब कुछ नियमानुसार निष्पादित हो जाता है। किसी अन्य न्याय-सगत रीति से अद्यपर्यन्त स्थापित नियमो का उल्लघन किये बिना शासन को सस्थापित करना असम्भव है।

# परिच्छेद १८

## शासन के बलाधिकार के निवारण के साधन

उपर्युक्त व्याख्याओ से, परिच्छेद १६ की पुष्टि मे, यह सिद्ध है कि जिस क्रिया द्वारा शासन सस्थापित होता है वह पाषण रूप न होकर केवल एक विधान है, कि अधिशासी शक्ति मे निक्षिप्त व्यक्ति राष्ट्र के स्वामी न होकर केवल अधिकारी गण है, कि लोग उन्हे नियुक्त कर सकते है और स्वेच्छा से पदच्युत कर सकते है, कि उनके लिये पाषण करने का कोई प्रश्न नही होता केवल अनुसरण का होता है, और कि जो कार्य उन पर राज्य द्वारा आरोपित किये जाते है उनको कार्यान्वित करते हुए वे केवल अपने नागरिक कर्तव्यो का पालन करते है, शर्तों के विवेचन करने का उन्हे कोई अधिकार प्राप्त नही होता ।

इसलिये स्पष्ट है कि जब लोग किसी पैतृक शासन का सस्थापन करते है, चाहे वह किसी एक कुटुम्ब मे राजतत्रात्मक हो, अथवा नागरिको के किसी एक वर्ग मे शिष्ट जनतत्रात्मक हो, वे किसी बध मे प्रविष्ट नही होते, बल्कि प्रशासन को केवल एक अस्थायी रूप देते है जिसका वे जब चाहे विभिन्नतया नियमन कर सकते है ।

यह सत्य है कि उपर्युक्त परिवर्तन सदा भयावह होते है और सस्थापित शासन को उन परिस्थितियो के अतिरिक्त जब वह सार्वजनिक हित के असगत हो जाय, कभी स्पर्श नही करना चाहिये, परतु यह सावधानी केवल नीति का नियम है, अधिकार का नियम नही, और राज्य सामाजिक प्रभुत्व को अपने मुख्य मनुष्यो के हस्त मे और उसी प्रकार सैनिक प्रभुत्व को सेनाधिकारियो के हस्त मे छोडने को बाध्य नही होता ।

अपरच, यह सत्य है कि उपर्युक्त दशा मे उन सब विधियो का जो एक नियमित और न्यायसगत क्रिया को राज्यद्रोही कोलाहल से और समस्त राष्ट्र की प्रेरणा को किसी एक पक्ष की चिल्लाहट से प्रभिन्न करने के लिये आवश्यक है, अत्यन्त सावधानी से अवलोकन किया जाना चाहिये । विशेषकर इस दशा मे घृणित प्रकरणो को केवल उतनी

ही मान्यता दी जानी चाहिये जितनी दृढ न्याय के अतर्गत अस्वीकार नही की जा सकती, चाहे इस दायित्व से भी शासनाधिकारी लोगो के विरुद्ध अपनी शक्ति को परिरक्षित करने में बडा बल प्राप्त करता है, क्योकि लोग यह नही कह पाते कि शासनाधिकारी ने उनकी शक्ति पर बलाधिकार कर लिया है। केवल अपने ही अधिकारो को कार्यान्वित करने का आभास करते हुए वह सुगमतापूर्वक उन्हे विस्तृत कर सकता है और सार्वभौमिक शक्ति को सस्थापित करने के बहाने से परिषदो की सुव्यवस्था पुन स्थापित करने के हेतु आमत्रित अधिवेशन अवरुद्ध कर सकता है, इस तरह शासनाधिकारी इस मौन का जिसे यह भग्न होने नही देता, और उन अनियमितताओ का जिनको घटित होने का यह स्वय कारण होता है, लाभ उठा लेता है, जो भय के कारण चुप हो जाते हैं उनका अनुमोदन अपने पक्ष मे प्राप्त कर लेता है और जो बोलने का साहस करते हैं उन्हे दडित कर देता है। इसी प्रकार द्वादश वर्ग ने, जो सर्वप्रथम एक वर्ष के लिये निर्वाचित हुए थे और फिर अगले वर्ष के लिये पदस्थ रहे थे, सभा (कमिटियाँ) को सम्मिलित न होने देकर सदा के लिये अपनी शक्ति को प्रतिधारण करने की चेष्टा की, और इसी सुगम रीति से विश्व के समस्त शासन एक बार सार्वजनिक बल से युक्त होने के अनतर सार्वभौम सत्ता पर कभी न कभी बलाधिकार कर लेते हैं।

जिन नियतकालिक परिषदो का मैंने पहिले उल्लेख किया है वे इस दोष का निवारण अथवा स्थगन करने के लिये बहुत उपयुक्त हैं, विशेषतया क्योकि उनके अधिवेशन के लिये किसी यथारीति आमत्रण की आवश्यकता नही होती, इसलिये शासनाधिकारी अपने आपको प्रत्यक्ष रूप मे विधानो का उल्लघनकर्ता और राज्य का शत्रु घोषित किये बिना उनमे हस्तक्षेप नही कर सकता।

उपर्युक्त परिषदो का उद्घाटन, जिनका प्रयोजन सामाजिक बध को परिरक्षित करना होता है, सदा दो प्रस्तावो के साथ होना चाहिये जिन्हे किसी को दमन करने का साहस नही होना चाहिये और जो पृथक्-पृथक् मतो मे पारित होने चाहिये।

प्रथम "क्या सार्वभौमिक सत्ता शासन के वर्तमान रूप को सधृत रखना चाहती है ?"

द्वितीय "क्या लोग प्रशासन को उन्ही के पास रखना चाहते है जिनमे यह अब नियसित है ?"

इस सबध मे मेरी यह पूर्वधारणा है, और मेरी मान्यता है कि मै इसे प्रमाणित कर चुका हूँ कि राज्य मे कोई ऐसा आधारभूत विधान नही होता, न ही सामाजिक पाषण ऐसा विधान होता है जिसे निरसित न किया जा सके, क्योकि यदि सब नाग-

रिक गम्भीर सम्विदा द्वारा इस पाषण को भग्न करने के हेतु सम्मिलित हो तो कोई इसमें शका नही कर सकता कि यह सर्वथा न्यायपूर्वक भग्न हो जायगा। ग्रोशस की तो यह भी कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्य, जिस राज्य का वह सदस्य हो, उसे त्याग सकता है और देश को छोडकर अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता और सम्पत्ति को पुन प्राप्त कर सकता है।[1] जो प्रत्येक नागरिक पृथक् रूप से करने का अधिकारी है उसे सब नागरिक सम्मिलित रूप मे करने को अशक्त है, यह धारणा हास्यास्पद होगी।

१ यह स्पष्टतया समझ लेना चाहिये कि किसी व्यक्ति को अपना कर्तव्य अपवंचित करने के हेतु अथवा ऐसे अवसर पर जब देश को उसकी आवश्यकता है सेवा से बचने के हेतु देश छोडने का अधिकार नहीं है। उपर्युक्त दशा में पलायन अपराधिक और दंडय होगा। यह निवृत्ति न होकर सपरित्याग की परिभाषा में आयगा।

# पुस्तक ४

# परिच्छेद १

## सर्वसाधारण प्रेरणा अविनाशी है

जब तक मनुष्यो की कोई सख्या सम्मिलित रूप मे अपने आपको एक निकाय मात्र समझती है, तब तक उसकी एक ही प्रेरणा होती है जिसका सबध सामान्य परिरक्षण और साधारण कल्याण से होता है। उस दशा मे राज्य के तमाम स्कन्द ओजस्वी और सरल होते है, राज्य के सिद्धात स्पष्ट और शुभ्र होते है, कोई सम्भ्रमित और परस्पर विरोधी हित नही होते, हर जगह सामान्य लाभ प्रत्यक्षत स्पष्ट होता है, और इसका निरूपण करने के लिये केवल व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता होती है। शाति, एकता और सामान्यता राजनीतिक विशेषणो के शत्रु होते है। सत्य और सरल स्वभावी मनुष्य अपनी सरलता के कारण मुश्किल से वचित होते है, प्रलोभन और सुसस्कृत छल उन्हे प्रभावित नही करते, वे वञ्चित होने के लिये भी पर्याप्त मात्रा मे चालाक नही होते। जब विश्व के प्रसन्नतम राष्ट्रो मे हम कृषको के समूहो को किसी बडे वृक्ष के नीचे बैठकर राज्य के कार्यो का विनिमयन करते और सदा बुद्धिमानी से कार्य करते हुए देखते है, तो क्या हम अन्य राष्ट्रो के, जो कला और रहस्य के आधार पर प्रसिद्ध अथवा दुर्भागी बनते है, परिष्कारो की अवहेलना किये बिना रह सकते है?

उपर्युक्त रीति से प्रशासित राज्य को विधानो की बहुत कम आवश्यकता होती है, और जिस मात्रा मे नये विधानो का उद्घोषण आवश्यक होता है उसकी आवश्यकता को वे सब लोग एक मत से मान्य करते है। विधान को प्रस्तावित करनेवाला मनुष्य सर्वसाधारण की पूर्व अनुभूति को व्यक्तमात्र करता है, और जिस प्रस्ताव को प्रत्येक ने मान्य करने का सकल्प पहले ही कर लिया हो उसे विधान के रूप मे पारित करने को न किसी के पक्ष-समर्थन और न वक्तृत्व की आवश्यकता होती है, क्योकि प्रस्तावक को विश्वास होता है कि शेष अन्य भी स्वय वही करेंगे जो वह कर रहा है।

जिससे तार्किक लोग वचित है वह यह है कि दुस्सगठित राज्यो को आद्य से ही अव-लोकित करते हुए वे इन राज्यो मे किसी सुनिश्चित रीति को सधृत करना असम्भव समझने लगते है। पेरिस अथवा लदन के लोगो को एक चतुर कपटी, एक उत्तेजक वक्ता क्या मूर्खताएँ सम्पन्न करने को उकसा सकता है, उनका विचार करके वे हँसते है। वे यह नही जानते कि बर्न के लोगो द्वारा क्रौमवैल को कठिन परिश्रम करने को दिया जाता और जेनेवा के लोगो द्वारा ड्यूक आफ ब्यूफोर्ट को कोडे लगाये जाते।

परन्तु जब सामाजिक बध ढीला होने लगता है और राज्य दुर्बल हो जाता है, जब वैयक्तिक हित प्रबल होने लगते है और क्षुद्र सस्थाएँ महान् सस्था पर प्रभाव डालने लगती है तो सामान्य हित को आघात लगता है और इसके विपक्षी उत्पन्न हो जाते है। मतदान मे एकमतता का प्रभुत्व नही रहता, सर्वसाधारण प्रेरणा सब लोगो की प्रेरणा नही रहती, विपक्ष और सघर्ष उत्पन्न हो जाते है, और श्रेष्ठतम प्रस्ताव भी निर्विरोध स्वीकृत नही होता।

अत मे जब विनाश के समीपस्थ राज्य निरर्थक और मायावी रूप मे ही निर्वाहित रहता है, जब सामाजिक बध प्रत्येक हृदय मे भग्न हो जाता है, जब क्षुद्रतम हित जन-कल्याण के पवित्र नाम के अतर्गत निर्लज्जता से अपना आश्रय लेता है, तो सर्व-साधारण प्रेरणा मूक हो जाती है। गुप्त प्रेरणाओ से उत्तेजित हुए सब लोग राज्य रचना के पूर्वकाल की भाँति नागरिक के रूप मे अपना मत व्यक्त नही करते, और विधानो के रूप मे वे छल से ऐसे अन्यायपूर्ण प्रादेशो को पारित करते है जिनका उद्देश्य केवल वैयक्तिक हितो की पूर्ति होता है।

क्या इस से यह सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण प्रेरणा विनष्ट हो गई है अथवा भ्रष्ट हो गई है? कदापि नही। सर्वसाधारण प्रेरणा तो सदा स्थिर, अपरिवर्ती और पवित्र रहती है, परन्तु उपर्युक्त स्थिति मे अन्य प्रेरणाओ द्वारा इसे केवल अधरिक कर लिया गया है। अपने हित को सामान्य हित से पृथक् करता हुआ प्रत्येक मनुष्य प्रत्यक्षत देखता है कि वह इसे सम्पूर्णतया पृथक् नही कर सकता, परन्तु राज्य की क्षति होने के परिणामस्वरूप उसकी निजी क्षति का भाग उस अपवर्जी लाभ की अपेक्षा जिसे वह स्वत प्राप्त करने का इच्छुक होता है, बहुत तुच्छ लगता है। यदि इस उपर्युक्त विशिष्ट लाभ को पृथक् कर दिया जाय, तो वह भी अपने निजी लाभ के हेतु सार्वजनिक कल्याण को दूसरो की तरह ही पूरी दृढता से चाहता है। अपने मत को धन के लिये विक्रय करते हुए भी वह अपने अत करण से सर्वसाधारण प्रेरणा को परिसमाप्त नही करता, बल्कि इससे बच निकलता है। जिस दोष का वह भागी होता है, वह है,

प्रश्न के रूप को बदलना और जो उससे पूछा गया उससे अलग ही कुछ उत्तर देना, उदाहरणार्थ अपने मत से यह कहने की अपेक्षा कि "यह राज्य के लिये लाभप्रद है" वह यह कहता है कि "इस प्रस्ताव का पारित होना किसी विशेष मनुष्य अथवा किसी विशेष पक्ष को लाभप्रद होगा।" इसलिये परिषदो की सार्वजनिक व्यवस्था के नियम सर्वसाधारण प्रेरणा को परिरक्षित करने के लिये इतने सक्षम नही होते जितने इस बात के लिये कि परिषद् से सदा विमर्श किया जायगा और परिषद् सदा निर्णय करेगी।

इस स्थान पर मै सार्वभौमिक सत्ता के प्रत्येक कार्य के सबध मे नागरिको के सरल अधिकारो का विवेचन करना चाहूँगा, उदाहरणार्थ मत प्रकट करने का अधिकार जो नागरिक से कोई भी छीन नही सकता और बोलने, प्रस्ताव करने, विभाजन करने और विमर्श करने के अधिकार जो शासन केवल अपने सदस्यो के लिये स्थापित रखने को सदा सतर्क रहता है, परतु इस महत्त्वपूर्ण विषय के लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता होगी, और वर्तमान पुस्तक मे मै सब कुछ नही कह सकता हूँ।

# परिच्छेद २

## मतदान

हमने गत परिच्छेद मे देखा है कि जिस रीति से सार्वजनिक कार्य होता है वह पर्याप्त विश्वसनीय मात्रा मे राजनीतिक निकाय के चरित्र तथा स्वास्थ्य की द्योतक है। परिषदो मे जितना अधिक सध्वनि का राज्य होता है, अर्थात् जितना अधिक मतदान एक मत के समीप पहुँचता है, उतना ही अधिक सर्वसाधारण प्रेरणा अविभावी होती है, परतु दीर्घ विवाद, मतभेद और कोलाहल उद्घोषित करते है कि वैयक्तिक हितो का बोलबाला है और राज्य क्षय की ओर प्रवृत्त है।

जब दो अथवा अधिक वर्ग राज्य के सविधान मे प्रविष्ट हो जाते है, उदाहरणार्थ रोम मे जहाँ शिष्टवर्ग और सामान्य वर्ग के सघर्ष के फलस्वरूप परिषद की कार्यवाही सघराज्य के उत्कृष्टतम दिनो मे भी बहुधा विक्षोभित होती थी, उपर्युक्त तथ्य कम स्पष्टता से प्रत्यक्ष होता है, परतु यह अपवाद भी वास्तविक होने की अपेक्षा अधिक आभासी ही है, क्योकि उस समय राजनीतिक निकाय के एक स्वाभाविक दोष के अतर्गत, वास्तव मे एक ही राज्य मे दो राज्य स्थापित होते है। दोनो राज्यो को सम्मिलित रूप मे अवलोकित करने से जो सत्य अवलोकित नही होता, वह प्रत्येक को पृथक् रूप मे दृष्टिगोचर करने से स्पष्ट दिखाई देता है। वास्तव मे सबसे तूफानी समय मे भी जब शिष्ट सभा लोगो के कार्यों मे अतराय नही डालती थी, लोगो का जनमत बहुधा विधानो को शातिपूर्वक और बहुमत से पारित किया करता था नागरिको का समान हित होने के कारण लोगो की एक ही प्रेरणा होती है।

चक्र के दूसरे सीमात पर एकमतता की पुन प्राप्ति होती है। वह तब होती है जब नागरिक दासत्व मे गिरने के अनतर न स्वतन्त्रता और न किसी प्रेरणा के धारक होते है। उस दशा मे भय और चापलूसी मतो को जयध्वनि मे परिवर्तित कर देते है, विमर्श करने के बदले मनुष्य केवल आराधना अथवा निदा करते है। सम्राटो के समय मे

शिष्ट सभा की यही कलंकित अभिमत रीति थी। कई बार इसका अनुमरण हास्यास्पद सावधानी के साथ किया जाता था। टैसीटस ने लिखा है कि ओथो के अधीन जब शिष्ट सभासदो ने विटैलियस पर शापो की वर्षा की तो साथ ही एक भयानक कोलाहल भी मचाया ताकि यदि वह स्वामी पद को प्राप्त कर ले तो वह यह न जान सके कि प्रत्येक व्यक्ति ने क्या कहा था।

उपर्युक्त विभिन्न विचारो के आधार पर ही उन सिद्धातों का उपकलन होता है जिनके अतर्गत, सर्वसाधारण प्रेरणा के न्यूनाधिक निश्चित हो सकने और राज्य के न्यूनाधिक नष्ट धर्म होने के अनुसार, मतो की गणना और अभिप्रायो की तुलना नियमित हो सके।

केवल एक ही ऐसा विधान है जो स्वभावत सर्वसम्मत स्वीकृति की अपेक्षा करता है। वह है सामाजिक बध, क्योंकि जानपदीय साहचर्य विश्व मे सर्वतोधिक स्वेच्छाप्रेरित क्रिया होती है। प्रत्येक मनुष्य जन्मत स्वतत्र और निज का स्वामी होने के कारण, कोई भी, किसी भी छल के अतर्गत, बिना उसकी स्वीकृति के, उसे दास नही बना सकता। इस निर्णय का कि दास का पुत्र जन्मत दास होता है, अर्थ यह हो जायगा कि वह जन्मत मनुष्य ही नही होता।

इसलिये यदि सामाजिक बध के समय कोई इसके विपक्षी हो तो उनके विरोध के कारण यह बध विधिहीन नही हो जाता परतु उस कारण केवल वे इसमे सम्मिलित होने से वचित हो जाते है, वे नागरिको के मध्य विदेशी-सम हो जाते हैं। जब राज्य स्थापित होता है तो स्वीकृति निवास मे निहित होती है, देश में रहने का अर्थ यह होता है कि सार्वभौमिक सत्ता की अधीनता स्वीकार कर ली है।[1]

इस आद्य पाषण के अतिरिक्त, बहुसख्या का मत सदा अन्य सबको बाध्य करता है, यह नियम स्वत पाषण का ही परिणामस्वरूप है। परतु यह पूछा जायगा कि कोई मनुष्य स्वतत्र होते हुए निज के अतिरिक्त दूसरी प्रेरणाओ के अधीन होने को बाध्य कैसे किया जा सकता है। विपक्षी लोग साथ ही स्वतत्र और जिन विधानो को उन्होंने स्वीकृत न किया हो, उनके अधीन कैसे हो सकते है?

१ उपर्युक्त का संबंध सदा स्वतंत्र राज्य से समझना चाहिये; क्योंकि कई बार कुटुम्ब, सम्पत्ति, शरण का अभाव, आवश्यकता, अथवा हिंसा किसी निवासी को उसकी स्वेच्छा के विरुद्ध भी देश में अवरुद्ध रख सकते हैं; और उस दशा में केवल उसका निवास पावन अथवा उसके उल्लंघन के प्रति उसकी स्वीकृति का द्योतक नहीं होता।

मेरा उत्तर है कि यह प्रश्न अनुचित रूप से प्रस्तुत किया गया है। नागरिक सब विधानो को स्वीकृत करता है, उनको भी जो उसकी इच्छा के प्रतिकूल पारित है और उनको भी जो उसके द्वारा उल्लघित किये जाने की दशा में उसे दंडित करते है। राज्य के सब सदस्यो की अपरिवर्तनीय प्रेरणा सर्वसाधारण प्रेरणा होती है, उसी के द्वारा वे नागरिक और स्वतत्र होते है।[1] जब जनपदीय परिषद् मे कोई विधान प्रस्ताबित किया जाता है तो लोगो से यह नही पूछा जाता कि वे उस प्रस्थापन का अनुमोदन करते है अथवा उसे अस्वीकार करते है, परतु यह पूछा जाता है कि वह प्रस्थापन सर्वसाधारण प्रेरणा के, जो उनकी निजी प्रेरणा का रूप है, सगत है अथवा नही, प्रत्येक अपना मत देकर इस सबध मे अपना अभिमत व्यक्त करता है, और मतो की गणना से सर्वसाधारण प्रेरणा की घोषणा प्राप्त होती है। इसलिये जब कभी अपने से विपक्षी अभिप्राय अविभावी होता है, तो वह केवल यही सिद्ध करता है कि मै गलती पर था और जिसे मै सर्वसाधारण प्रेरणा समझता था वह वास्तव मे सर्वसाधारण प्रेरणा नही थी। यदि मेरा वैयक्तिक अभिप्राय अविभावी हो जाता तो मै अपनी प्रेरणा के विपरीत कार्य करने का दोषी होता, और उस दशा मै वास्तविक अर्थ में स्वतत्र नही हो सकता था।

यह सत्य है कि इससे यह अनुमानित होगा कि सर्वसाधारण प्रेरणा के सब चिह्न बहुसख्या मे वेष्टित है, जब ऐसा होना बन्द हो जायगा तो, चाहे हम किसी पक्ष मे रहे, हमे स्वतत्रता प्राप्त न होगी।

पूर्व मे यह प्रदर्शित करते हुए कि सार्वजनिक सकल्पो मे विशिष्ट प्रेरणाएँ सर्वसाधारण प्रेरणा के स्थान पर कैसे प्रतिस्थापित हो जाती है, मैने इस दुष्प्रयोग को रोकने के पर्याप्त व्यवहारगम्य साधन प्रदर्शित किये है; इनकी चर्चा मै बाद मे पुन करूँगा। सर्वसाधारण प्रेरणा को घोषित करने के लिये मतो की अनुपाती सख्या के सबध में मैने वे सिद्धात निरूपित कर दिये हैं जिनके अनुसार इसको निश्चित किया जा सकता है। केवल एक मत का अन्तर सर्वसम्मति को नष्ट कर देता है, परतु सर्वसम्मति और

१ जेनेवा में कारागृह के द्वार पर और नाविक दासों की हथकड़ियों पर शब्द "स्वतत्रता" लिखा होता है। इस उक्ति का प्रयोग उचित और न्यायसंगत है। वास्तव में केवल सब प्रकार के कुचेष्टाकारी ही नागरिक को स्वतंत्रता की प्राप्ति से वंचित रखते है, जिस देश में उपर्युक्त सब व्यक्ति नाविक दासत्व में डाल दिये गये हों उसी देश में संपूर्णतम स्वतंत्रता का उपभोग हो सकेगा।

समान सम्मति के बीच अनेक असमान भाग होते हैं जिन प्रत्येक पर राजनीतिक निकाय की स्थिति और आवश्यकताओ के अनुसार इस संख्या का स्थापन किया जा सकता है ।

उपर्युक्त अनुपातों को नियमित करन में दो साधारण नियम सहायक हो सकते है, प्रथम यह कि जितना अधिक महत्त्व का अथवा भारी सकल्प हो उतना ही अधिक अधिभावी अभिप्राय को सर्वसम्मति के समीप होना चाहिये, दूसरे यह कि जितना अधिक विवेचनाधीन कार्य मे शीघ्रता की आवश्यकता हो उतना ही अधिक अभिप्रायो के भाग मे निर्धारित अतर को सीमित करना चाहिये, जिन सकल्पों मे त्वरित निर्णय की आवश्यकता हो उनमे एकमात्र मत की बहुसख्या पर्याप्त होनी चाहिये। इन नियमो मे, प्रथम नियम विधानो के निमित्त अधिक उचित प्रतीत होता है और दूसरा कार्यों के निमित्त। परतु कुछ भी हो, इन दोनो नियमो के सम्मिश्रण द्वारा ही वे उत्तमतम अनुपात सस्थापित किये जा सकते है जिनके अतर्गत बहुमत का निर्णय अधिभावी होना उचित होगा ।

# परिच्छेद ३

## निर्वाचन

शासनाधिकारी और दडाधिकारियो के निर्वाचन के सबध मे जो, जैसा मैं पहिले भी कह चुका हूँ, जटिल क्रियाएँ है, दो कार्य-प्रणालियाँ प्रयुक्त होती है (अर्थात् चुनाव और भाग्यपत्रक)। दोनो प्रणालियाँ भिन्न भिन्न सघ राज्यो मे प्रयुक्त की गई है, और अब भी वेनिस के ड्यूक के निर्वाचन मे दोनो प्रणालियो का सजटिल मिश्रण दृष्टिगोचर होता है।

मौटैस्क्यू का कथन है कि "भाग्यपत्रक द्वारा निर्वाचन जनतत्र की प्रकृति के अनुकूल है।" मैं यह मानता हूँ, परतु किस प्रकार ?—मौटैस्क्यू आगे कहता है कि "भाग्यपत्रक निर्वाचन एक ऐसी रीति है जिसमे किसी की मानहानि नही होती, प्रत्येक नागरिक को अपने देश की सेवा करने की युक्तियुक्त आशा रहती है।" परतु वास्तव मे ये कारण नही है।

यदि हम इसे अपने ध्यान मे रखे कि प्रमुखो का निर्वाचन शासन का कार्य है सार्वभौमिक सत्ता का नही, तो हम देखेगे कि भाग्यपत्रक द्वारा निर्वाचन की पद्धति जनतत्र की प्रकृति के अधिक अनुकूल क्यो है। जनतत्र मे प्रशासन उतना ही अधिक अच्छा होता है जितने कम इसके कार्य गुणित किये जाते है।

प्रत्येक वास्तविक जनतत्र मे दडाधिकार कोई उपहार नही होता, परतु एक दुर्वह प्रभार होता है, और उसे अन्यो की अपेक्षा किसी एक व्यक्ति पर आरोपित करना न्याय की दृष्टि मे उचित नही हो सकता। जिस व्यक्ति के नाम भाग्यपत्रक निकलता है उसपर इस भार का आरोपण केवल विधान द्वारा ही कल्पित हो सकता है क्योकि उस दशा मे सबके लिये समान स्थिति होने के कारण, और चुनाव मानुषिक इच्छा पर आधारित न होने के कारण, किसी ऐसी विशिष्ट प्रयुक्ति का अवलम्बन नही होता जिससे विधान की सार्वत्रिकता बदल जाय।

शिष्ट-जनतंत्र मे शासनाधिकारी ही शासनाधिकारी को चुनता है; शासन अपने द्वारा ही संधृत होता है, और इसलिये मतदान प्रणाली प्रचलित होना उचित है।

वेनिस के ड्यूक के निर्वाचन का उदाहरण इस अन्तर को विनष्ट करने के बजाय पुष्टिकृत करता है, यह मिश्र प्रणाली मिश्रित शासन के लिये उपयुक्त है, क्योंकि वेनिस के शासन को सत्य, शिष्ट-जनतंत्र मानना ही गलती है। जब लोग शासन में भाग ही नही लेते तो शिष्टजन स्वयमेव जनसमूह होते है। दीन बर्नाबाटो के समूह दडाधिकारी पद के समीप नही पहुँचते और अपनी श्रेष्ठता के चिह्न स्वरूप केवल "श्रेष्ठ" की शून्य उपाधि और महान् सभा मे उपस्थित होने का अधिकार ही धारण करते है। यह महान् सभा हमारी जेनेवा की साधारण सभा के समान सख्याधिक होने के कारण, इसके प्रख्यात सदस्य हमारे सरल नागरिको की अपेक्षा कोई अधिक विशेषाधिकार प्राप्त नही करते। यह निश्चित है कि दोनो सघराज्यो की नितात असमता को पृथक् करने के अनन्तर, जेनेवा का नागरिक वेनिस के शिष्टजनो के वर्ग के पूर्णतया अनुरूप होता है, हमारे देशज और निवासी वेनिस के नागरिक और लोगो का प्रतिनिधित्व करते हैं, हमारे कृषक प्रधान द्वीप की प्रजा का प्रतिनिधित्व करते हैं, सक्षेप मे इस सघराज्य को, इसके विस्तार के अतिरिक्त, हम जिस रूप मे भी अवलोकित करे, इसका शासन हमारे शासन से अधिक शिष्ट-जनतत्रात्मक नही है। समस्त विभिन्नता यह है कि कोई आजीवन प्रमुख न होने के कारण हमें भाग्यपत्रक की उतनी आवश्यकता नही है।

वास्तविक जनतत्र में भाग्यपत्रक द्वारा निर्वाचन बहुत कम दोषयुक्त होगा, क्योंकि सब लोग चरित्र तथा योग्यता एव भाव तथा भाग्य मे समान होने के कारण, चुनावसा धारणतया अपक्षपाती होगा। परतु मै पहिले ही कह चुका हूँ कि वास्तविक जनतत्र होता ही नही।

जब चुनाव और भाग्यपत्रक सम्मिश्रित किये जायँ, तो चुनाव को ऐसे पदो की पूर्ति के लिये प्रयुक्त करना चाहिये जिनके लिये विशेष योग्यता वाछनीय हो, उदाहरणार्थ सैनिक नियुक्तियाँ, भाग्यपत्रक उन पदो की पूर्ति के लिये उपयुक्त होता है जहाँ विवेक, बुद्धि, न्याय तथा पवित्रता पर्याप्त होती हो, उदाहरणार्थ नैयायिक पद, क्योंकि सुसगठित राज्य मे उपर्युक्त गुण सब नागरिको मे समान होते है।

राजतत्रात्मक शासन मे भाग्यपत्रक तथा मतदान का कोई स्थान नही है। राजा साधिकार एकमेव शासनाधिकारी और दडाधिकारी होने के कारण, उसके सहायको

का चुनाव उस पर स्वत निर्भर होता है। जब आबे दी सैम्पियर ने फ्रांस के बादशाह की सभा को गुणित करने और उसके सदस्यो को मतपत्र द्वारा निर्वाचित करने का सुझाव रक्खा, तो उसने यह नही देखा कि वास्तव मे उसका सुझाव शासन के प्रकार को बदलने का था।

लोकपरिषद् मे मतो के अभिलेख तथा गणना की रीति के सबध मे मुझे अभी कहना है, परन्तु सम्भवत रोम की नीति का इतिहास उन सब सिद्धान्तो को जिन्हे मै प्रस्थापित करना चाहता हूँ अधिक स्पष्टता से प्रदर्शित करेगा। विवेकी पाठक के लिये यह अनुचित नही होगा कि वह थोडी सविस्तर रीति से इस बात को अवलोकित करे कि दो लाख मनुष्यो की सभा मे सार्वजनिक और वैयक्तिक कार्य कैसे सपादित होते है।

# परिच्छेद ४

## रोम की समितियाँ

रोम के प्राचीन इतिहास का हमारे पास बहुत विश्वसनीय स्मारक नही है। यह भी बहुत सम्भाव्य है कि बहुत वस्तुएँ जो अनुक्रम से प्राप्त हुई है कल्पित कथा मात्र हो[1] और साधारणत उनकी संस्थाओ का इतिहास, जो राष्ट्र के इतिहास का सबसे शिक्षाप्रद भाग होता है, अत्यन्त दोषयुक्त है। अनुभव हमें प्रतिदिन बताता है कि किन कारणो से साम्राज्यों की क्रातियाँ उत्पन्न होती है, परन्तु चूँकि राष्ट्र स्वय निर्माण क्रम को पार कर चुके है, इसलिये इस बात का विश्लेषण करने के लिये कि वे कैसे निर्मित हुए थे, हमारे पास अनुमान के अतिरिक्त कोई और साधन नही है।

जो रूढियाँ संस्थापित है उनमे कम से कम यह पता तो चलता है कि इन रूढियो का कभी आरम्भ हुआ था। उक्त आरम्भ तक पहुँचनेवाली कथाओ मे से जिन्हे प्राधिकारीतम लेखक मान्य करते है और जो दृढतम युक्तियो द्वारा पुष्ट होती हो, उन्हे अत्यत नि शक समझा जाना चाहिये। मैंने इस बात का अन्वेषण करने के लिये कि विश्व के स्वतत्रतम और शक्तिशालीतम राष्ट्र ने अपनी वरिष्ट शक्ति का किस प्रकार प्रयोग किया, उपर्युक्त सिद्धात का अनुसरण किया है।

रोम के स्थापित होने के अनतर, व्युत्पादित गणराज्य, अर्थात् निर्माता की सेना, जिसमे अल्बेनिया, सेबिनया और विदेश के लोग थे, तीन वर्गों मे विभाजित थी और इस विभाजन के परिणामस्वरूप इसका नाम गणजाति (Tribe) पड़ गया था।

१ रोम का नाम, जिसे रोम्युलस से आकर्षित कहा जाता है, ग्रीक भाषा का है और इसका अर्थ बल है। न्यूमा का नाम भी ग्रीक भाषा का है और इसका अर्थ विधान होता है। कैसा आश्चर्यजनक संपात है कि इस नगर के दो सर्वप्रथम राजाओं के ये नाम हों जो प्रत्यक्ष रूप में उनके द्वारा किये गये कार्यों से इस प्रकार संबंधित हैं।

प्रत्येक "गणजाति" दस क्यूरिया मे विभाजित थी, और प्रत्येक क्यूरिया डीक्यूरिया में। इनके प्रमुख (Curiones and decuriones) कहलाते थे।

इसके अतिरिक्त, एक शत घुडसवारो का समुदाय जिसे सेन्चुरिया (Centuria) कहा जाता था, प्रत्येक "गणजाति" से निष्कर्षित होता था, जिससे स्पष्ट है कि ये विभाजन जो किसी नगरके लिये अनिवार्य नही है, आरम्भ मे केवल सैनिक रूप थे। परन्तु ऐसा लगता है कि महत्वाकाक्षा के कारण रोम के छोटे नगर ने आरभ से ही एक ऐसी नीति को अगीकार किया जो विश्व की राजधानी के लिये उचित थी।

इस प्राथमिक विभाजन के फलस्वरूप , जल्दी ही एक कठिनाई उपस्थित हुई। अल्बेनिया और सेबाइन की गणजातियाँ सदा समान स्थिति मे रही परन्तु विदेशियो की ट्राइब निरतर अभिगमन के कारण लगातार अभिवृद्ध होती रही और जल्दी ही उन दोनो से अधिक सख्या मे हो गयी। सर्वियस ने इस भयावह दुष्प्रयोग के निराकरण के हेतु विभाजन की रीति को बदल दिया, जातियो के अनुसार विभाजन को लुप्त करके उसके स्थान पर अन्य विभाजन प्रतिस्थापित कर दिया जिसका आधार नगर की प्रत्येक ट्राइब द्वारा वासित मडल बनाये गये। तीन ट्राइब्स के स्थान पर उसने चार ट्राइब्स बना दी, इनमे से प्रत्येक रोम की अलग अलग पहाडी पर रहती थी और उसी का नाम धारण करती थी। ऐसा करने मे, न केवल वर्तमान असमानता का प्रतिकार हो गया, परन्तु भविष्य मे भी इसका अवरोध हो गया और यह आरोपित करने के लिये कि विभाजन न केवल क्षेत्रो का अपितु मनुष्यो का भी रहे, उसने एक क्षेत्र के निवासियो को किसी अन्य क्षेत्र मे जाने मे अवरुद्ध कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप जातियो का सम्मिश्रण होना भी निवारित हो गया।

उसने प्राचीन अश्वसेना की तीन सेन्चुरी को द्विगुणित कर दिया, और तदनतर १२ और सेंचुरी बढा दी, परन्तु नाम पुराना ही रहने दिया, इस सरल और न्याय-सगत साधन से उसने अश्वारोहियो और अन्य लोगो मे, इनके बडबडाने का कारण उत्पादित किये बिना, भेद स्थापित कर दिया।

उपर्युक्त चार नगरीय ट्राइब्स मे, सर्वियस ने १५ अन्य जोड दी जिन्हे ग्राम्य ट्राइब्स कहा गया, क्योकि वे ग्राम के निवासियो से निर्मित की गयी थी उन्हे इतने ही उपमडलो मे विभाजित किया गया। तदनतर इतनी ही अन्य नवीन ट्राइब्स बनायी गयी, और अत मे रोम के लोगो का विभाजन ३५ ट्राइब्स मे हो गया, जो सख्या गणराज्य के अत तक स्थापित रही।

उपर्युक्त नगरीय और ग्राम्य ट्राइब्स के भेद के फलस्वरूप, एक उल्लेखनीय परि-णाम दृष्टिगोचर हुआ, इस परिणाम का कोई अन्य उदाहरण नही मिलता और रोम में भी यह परिणाम अपनी रीतियो के परिरक्षण और अपने साम्राज्य की वृद्धि के कारण ही उत्पादित हुआ। कोई ऐसा अनुमान कर सकता है कि नगरीय ट्राइब्स ने समस्त शक्ति और प्रतिष्ठा पर विजयाधिकार कर लिया होगा, और वे ग्राम्य ट्राइब्स की उपेक्षा करने को उद्यत हुई होगी, परन्तु हुआ इससे बिल्कुल विपरीत। हम प्राचीन रोम निवासियो के ग्राम्य जीवन के प्रेम को जानते है। यह प्रेम उन्होने अपने बुद्धिमान निर्माता से ही प्राप्त किया था, जिसने स्वतन्त्रता के साथ ग्राम्य और सैनिक कार्यों को जोड़ा था, और नगरो मे, ऐसा मानना चाहिये कि, कला, व्यापार, षड्यत्र, धन और दासत्व को निर्वासित किया था।

इसलिये रोम का प्रत्येक प्रसिद्ध मनुष्य ग्राम का निवासी और भूमि का कृषक होने के कारण, सघराज्य के रक्षको को ग्राम मे ही खोजना यह रूढ़िगत हो गया था। योग्यतम शिष्टो द्वारा अनुसरित होने के कारण, उपर्युक्त स्थिति, प्रत्येक द्वारा आदरित हुई, ग्रामीणो का सरल और श्रमयुक्त जीवन रोम के नागरिको के शिथिल और निरुद्योगी जीवन से सदा अधिमानित रहा, और अनेक लोग जो नगर मे केवल हतभागी श्रमजीवी होते, ग्रामो मे श्रमिक होकर सम्मानित नागरिक बन गये। वैरो का कथन है कि यह युक्ति रहित बात नही है कि हमारे मनस्वी पूर्वजनो ने ग्राम में ही उन परिश्रमी और बहादुर मनुष्यो के शिशुगृह को सस्थापित किया जिन्होने उन्हे युद्ध मे प्रतिरक्षित और शान्तकाल मे पोषित किया। प्लिनी का तो स्पष्ट कथन है कि ग्रामीय ट्राइब्स का आदर तो उनके सघटक मनुष्यो के कारण ही हुआ, जिनको अयोग्य होने के कारण कलकित करना इच्छित था उन्हे तिरस्कार के चिह्नरूप नगरीय ट्राइब्स मे स्थानातरित कर दिया गया। Sabine Appius Claudius के रोम मे आकर वासित होने पर उसे सम्मान मे लाद दिया गया, और एक ग्राम्य ट्राइब मे भरती किया गया, जिसका बाद में उसके कुटुम्ब का ही नाम पड़ गया। अन्तत, सब मक्त पुरुषो को नगरीय ट्राइब्स मे भरती किया जाता था, ग्राम्य में नही, और सघराज्य के सम्पूर्ण इतिहास मे इन मुक्त पुरुषो द्वारा दडाधिकार प्राप्त करने का एक भी उदाहरण नही मिलता, चाहे वे नागरिक हो गये थे।

उपर्युक्त सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ था, परन्तु इसे इस सीमा तक ढकेला गया कि अत में इसके फलस्वरूप शासन में परिवर्तन और निश्चय रूप से एक दोष उत्पन्न हो गया।

प्रथमत दोषवंचको ने किसी नागरिक को एक ट्राइब से अन्य ट्राइब में स्वेच्छानुसार परिवर्तित करने के अधिकार को देर तक बलोपभोग करने के अनतर ही, सख्याधिक को यह आज्ञा दी कि वे जिस ट्राइब मे भर्ती होना चाहते हो, हो जायें, इस आज्ञा से कोई निश्चित लाभ न होकर दोषवचना का एक बडा ससाधन विनष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त, क्योकि सब महान् और शक्तिशाली लोगो ने ग्रामीय ट्राइब्स मे निज को भर्ती कराया, और मुक्त पुरुष नागरिक होने के अनतर अन्य जनता के साथ नगरीय ट्राइब्स मे रहे, इसलिये साधारणतया ट्राइब्स मे क्षेत्र अथवा मडल का कोई भेद न रहा, और वे ऐसी सम्मिश्रित हो गयी कि पजीयो की सहायता के बिना प्रत्येक ट्राइब के सदस्यो को पहिचानना असम्भव हो गया, यहाँ तक कि शब्द ट्राइब का आशय वास्तविक से वैयक्तिक मे परिवर्तित हो गया, अथवा मनगढत-सा हो गया।

अन्तिम फल यह हुआ कि समीप होने के कारण नगरीय ट्राइब समिति मे बहुत शक्तिसम्पन्न हो गयी और राज्य को उन लोगो के हाथ विक्रय करने लगी जो इन ट्राइब्स के घटक जमघट के मत को क्रय करने की नीचता करते थे।

जहाँ तक क्यूरिआ का सबध है, निर्माता द्वारा प्रत्येक ट्राइब मे दस निर्मित किये जाने से समस्त रोम की जनता मे, जो उस समय नगर की भित्ति के अतर्गत थी, तीस क्यूरी स्थापित थी, प्रत्येक के अपने मदिर, देव, अधिकारी, पुरोहित और उत्सव होते थे जिन्हे compitalia का जाता था, ये तदनतर ग्रामीय ट्राइब्स द्वारा स्थापित paganalia के समान होते थे।

सर्वियस द्वारा निरूपित नवीन विभाजन मे, तीन चार ट्राइब्स मे समान रूप से विभाजित न हो सकने के कारण, वह इनको बदलना नही चाहता था, ट्राइब के स्वतत्र होने के कारण रोम के निवासियो का क्यूरिआ एक अन्य विभाजन रूप हो गया। परन्तु ग्रामीय ट्राइब्स मे अथवा उन्हे निर्माण करनेवाले लोगो मे क्यूरिआ की स्थापना का कोई प्रश्न नही था, क्योकि ये ट्राइब्स एक विशुद्ध सामाजिक सस्था हो जाने के कारण और सैनिक उद्ग्रहण करने की एक अन्य नीति स्थापित हो जाने के कारण, रोम्युलस द्वारा बनाये हुए सैनिक भाग व्यर्थ हो गये थे। इसलिये यद्यपि प्रत्येक नागरिक किसी न किसी ट्राइब मे भर्ती होता था परन्तु प्रत्येक क्यूरिआ मे भी अवश्य भर्ती हो, ऐसी दशा नही थी।

सर्वियस ने एक अन्य तृतीय विभाजन किया, जिसका पूर्ववर्तीय दो से कोई सबध नही था, परतु जो प्रभावत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। उसने समस्त रोम की जनता को छ वर्गों मे विभाजित किया, और इन वर्गों का अतर निवास

स्थान के आधार पर नही, न मनुष्यो के आधार पर, बल्कि सम्पत्ति के आधार पर किया। ताकि प्रथम वर्ग तो धनी मनुष्यों से परिपूर्ण किये गये, अंतिम दीन मनुष्यो से, और मध्यस्थ उनसे जो मध्यम ऐश्वर्य का उपभोग करते थे। उपर्युक्त छ. वर्ग १९३ अन्य निकायो में, जिन्हें सैंचुरी कहते थे, विभाजित किये गये, और इन निकायों को इस प्रकार वितरित किया गया कि अकेले प्रथम वर्ग में आधे से अधिक लोग सम्मिलित थे और अंतिम वर्ग में केवल एक। परिणाम यह था कि संख्या न्यूनतम वर्ग मे अधिकतम सैंचुरी बनी, और अंतिम सम्पूर्ण वर्ग की गणना केवल एक उपभाग के रूप में हुई हालाँकि यह अकेला रोम के आधे से अधिक निवासियो को अंतर्धारित करता था।

इस हेतु कि लोग इस अंतिम प्रकार का परिणाम प्रत्यक्ष रूप में अवलोकित न कर सकें, सर्वियस ने इसे सैनिक रूप देने का आडंबर किया, दूसरे वर्ग में उसने शस्त्रधारकों की दो सैंचुरीज़ और चौथे वर्ग में सैनिक उपकरणो के निर्माताओं की दो सैंचुरीज़ पुरस्थापित कर दी। अंतिम वर्ग के अतिरिक्त, प्रत्येक वर्ग मे उसने युवा और वृद्ध में भेद किया, अर्थात् उनमें जिन पर शस्त्र धारण करने का दायित्व था और उनमें जो अपनी अवस्था के कारण विधान द्वारा मुक्त हो चुके थे; सम्पत्ति के अभिनिर्धारण से कही अधिक इस अंतर के कारण बारम्बार जनगणना करने की आवश्यकता होती थी। अंत मे उसने यह नियम बनाया कि समिति का अधिवेशन Campus Martius मे हुआ करे और वे सब व्यक्ति जो अवस्था के आधार पर सैनिक सेवा के योग्य थे वहाँ अपने शस्त्रो सहित उपस्थित हुआ करे।

उसने अंतिम वर्ग मे ज्येष्ठो और कनिष्ठो मे इसी प्रकार अंतर क्यो स्थापित नही किया, इसका कारण यह है कि जिस जनभाग द्वारा यह वर्ग निर्मित हुआ था उसे देश के लिये शस्त्र धारण करने का सन्मान प्राप्त नही था, वासभूमि को परिरक्षित करने का अधिकार प्राप्त करने के लिये पहले वासभूमि तो हो। और राजाओ की सेनाओ मे जो असंख्यात भिखमंगो के दल आज दृष्टिगोचर होते है सम्भवत उनमे एक भी ऐसा नही होता जो रोम की सेना मे घृणा से बहिष्कृत न कर दिया जाता, जब कि रोम के सैनिक स्वतंत्रता के परिरक्षक होते थे।

अपरञ्च, अंतिम वर्ग मे श्रमजीविको और अन्यो में जो Cadite censi कहलाते थे अंतर किया जाता था। श्रमजीवी सम्पूर्णतया दरिद्र नही होते थे, वे राज्यो को नागरिक, और कभी कभी आपत्तिकाल में सैनिक भी, प्रदान करते थे। जहाँ तक उन लोगो का संबंध है जिनके पास कुछ था ही नही और जिनकी गणना केवल शिरो द्वारा

की जाती थी, वे सर्वथा अनावश्यक समझे जाते थे, मेरियस ने ही सर्वप्रथम उन्हें भरती तक करने की कृपा की थी।

इस बात का कि यह तृतीय विभाजन स्वत अच्छा था या बुरा, निर्णय किये बिना, मैं समझता हूँ कि यह निश्चयरूप मे कहा जा सकता है कि आद्य रोम निवासियो के सरल स्वभाव, निरपेक्षता, कृषि प्रेम और वाणिज्य तथा लाभ के तीव्रानुसरण के तिरस्कार के कारण ही यह व्यवहार सम्भव हो सका। किस वर्तमान राष्ट्र मे तीव्र लोभ, भावो की व्यग्रता, षड्यत्र, निवास का निरतर परिवर्तन और भाग्य के शाश्वत उलट फेर इस प्रकार की सस्था को सम्पूर्ण राज्य को पलटे बिना बीस वर्षों तक स्थापित रहने देते ? वास्तव में इस ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है कि रोम मे इस सस्था की त्रुटियाँ, शील और दोषवचन द्वारा, जो इस सस्था से ज्यादा शक्तिशाली थे, सशोधित होती रही और अनेक धनी मनुष्य अपने वैभव का अत्यधिक प्रदर्शन करने के कारण दीनो के इस वर्ग मे अवतरित किये जाते रहे।

उपर्युक्त से हम सुगमतापूर्वक समझ सकेंगे कि क्यो पाँच वर्गों से अधिक का कभी उल्लेख नहीं किया जाता, हालाँकि वास्तव मे छ वर्ग थे। छठाँ वर्ग जो न सेना को सैनिक प्रदान करता था और न Campus martius को[1] मतदाता, और जो गणराज्य के लिये निरर्थक मात्र था, कोई बहुत महत्त्व का नही माना जाता था।

रोम के लोगो के ये विभिन्न भाग है। अब हम देखेंगे कि परिषदो मे इन भागो का क्या प्रभाव होता था। विधानानसार समाहूत ये परिषदें कमिटिया कहलाती थी। इनका अधिवेशन रोम के फोरम मे अथवा Campus martius मे हुआ करता था, और इनके रूप उन तीन प्रकारो के अनुसार थे जिन पर ये विनियमित होते थे, और Comitia curiata, Comitia centuriata और Comitia tributa कहलाते थे, Comitia curiata रोमुलस द्वारा सस्थापित हुई थी, Comitia centuriata सर्वियस द्वारा और Comitia tributa लोगो के न्यायरक्षको द्वारा। कमिटिया द्वारा पारित होने के अतिरिक्त, न किसी विधान को सम्मोदन प्राप्त होता था और न किसी दडाधिकारी का निर्वाचन हो सकता था, और क्योकि कोई

१ मैं "कैंपस मार्टियस को" यह शब्द प्रयुक्त करता हूँ, क्योकि कैंपस मार्टियस में comitia centuriata का अधिवेशन होता था। अपने दूसरे रूप में सभा फोरम में अथवा किसी अन्य स्थान पर सम्मिलित होती थी ; और तब capite censi इतना ही प्रभाव और प्रभुत्व प्राप्त करती थी जितना कि प्रमुख नागरिक।

ऐसा नागरिक नही था जो किसी न किसी कमिटिया, तथा सैंचुरिया, अथवा ट्राइब में भर्ती न हुआ हो, इसलिये यह स्पष्ट है कि किसी नागरिक को मताधिकार से अपवर्जित नही किया गया था। अर्थात् रोम के लोग वास्तविक रूप मे विधानत और वस्तुत सार्वभौम-सत्ताधिकारी थे।

कमिटिया का न्यायसगत अधिवेशन होने के लिये और उसमे किये हुए कार्य को विधान का बल प्राप्त करने के लिये, तीन शर्तों की पूर्ति आवश्यक थी, प्रथम कि जिस निकाय अथवा दंडाधिकारी द्वारा उन्हे सामहूत किया जाय, उसमे उस प्रयोजन के लिये आवश्यक प्रभुत्व विनियोजित होना चाहिये, द्वितीय कि परिषद् का अधिवेशन किसी ऐसे दिन होना चाहिये जो विधान द्वारा अनुमत हो, तृतीय कि शकुन अनुकूल होने चाहिये।

पहली शर्त के कारण की व्याख्या करने की आवश्यकता नही है। द्वितीय नीति का विषय है, कमिटिया का अधिवेशन उत्सव के दिन अथवा हाट के दिन करना अनुमत नही था, क्योकि उस दिन ग्रामीण लोग रोम में व्यापार के हेतु आने के कारण दिन को परिषद् के अधिवेशन मे व्यतीत करने का अवकाश प्राप्त न कर सकते थे। तीसरी शर्त द्वारा शिष्ट सभा अहकारी और उपद्रवी लोगो पर नियत्रण रखती थी और यथासमय राजद्रोही न्यायरक्षको की उग्रता को मद करती थी, परतु राजद्रोही लोग इस निबाध से मुक्त होने के अनेक साधन खोज लेते थे।

विधान और प्रमुखो का निर्वाचन, केवल यही दो विषय कमिटिया के निर्णय के हेतु प्रस्तुत नही होते थे। रोम के लोगो द्वारा शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ बलाधिकृत हो जाने के कारण, यह कहा जा सकता है कि यूरोप के भाग्य का निश्चयन लोगो की परिषदो मे ही होता था। विषयो की उपर्युक्त विभिन्नता के कारण परिषदो के उन विभिन्न प्रकारो को पर्याप्त विस्तार मिल जाता था जो निर्णय हेतु प्रस्तावित विषयो के अनुसार ये धारण करती थी।

इन विभिन्न प्रकारो का मूल्याकन करने के हेतु, इनकी तुलना करना पर्याप्त है। क्यूरिया को स्थापित करने मे रोम्युलस की इच्छा यह थी कि शिष्ट सभा को लोगो द्वारा और लोगो को शिष्ट सभा द्वारा अवरुद्ध किया जाय और सब पर समान प्रभुत्व स्थापित किया जाय। इसलिये उसने इस सस्था द्वारा लोगो को सख्या का समस्त प्रभुत्व प्रदान किया ताकि वह शिष्टवर्ग के बल और सम्पत्ति के विरुद्ध सतुलित हो सके। परन्तु राजतत्र की प्रवृत्ति के अनुसार, उसने फिर भी अधिक लाभ शिष्टवर्ग को ही दिया जो अपने आश्रितो के प्रभाव द्वारा मताधिक्य प्राप्त करने मे सफल हो सकते थे। आश्रय-

दाताओ और आश्रितों की यह सराहनीय सस्था नीति और मनुष्यत्व की एक अद्वितीय रचना थी, जिसके बिना शिष्टवर्ग जो सघराज्य के स्वभाव के निरतर विपरीत था, निर्वाहित नहीं हो सकता था। केवल रोम को ही विश्व को इस श्रेष्ठ सस्था के प्रदान करने का श्रेय है, इस सस्था का कभी कोई दुरुपयोग नही हुआ, परतु फिर भी इसका कभी अनुसरण नहीं हुआ।

क्यूरिया की परिषद का रूप सर्वियस के तथा राजाओ के समय मे भी निर्वाहित रहा, और चूकि अन्तिम Tarquin का राज्य न्यायसगत नही माना जाता है, इसलिये साधारणतया राजकीय विधानो को Leges curiatea नाम देकर उनमे भेद किया जाता रहा।

सघराज्य के अतर्गत क्यूरिया की परिषद्, जो सदा चार नगरीय ट्राइब्स तक सीमित थी, और जो केवल रोम की जनता को ही अतर्धारण करती थी, शिष्ट सभा और धर्मरक्षको के अनुरूप नही होती थी, शिष्ट सभा शिष्ट वर्ग की प्रधान होती थी और धर्मरक्षक निम्नजातीय होते हुए भी मध्यवर्गीय नागरिको के प्रधान होते थे। इसीलिये curia की परिषद् निद्य हो गई और इसकी हीनावस्था मे यह स्थिति हो गई कि उसके तीस एकत्रित Lictors ने यह सब कार्य करने आरम्भ किये जो Comitia curiata द्वारा होने चाहिये थे।

Centuries पर आधारित विभाजन शिष्टवर्ग का इतना पक्षपाती था कि सर्व-प्रथम हमे यह आश्चर्यजनक लगता था कि जिस कमिटिया का यह नाम था और जिसमे उपराज्यपाल दोषवचक और अन्य unrule दडाधिकारी निर्वाचित होते थे, उसमे शिष्टसभा सदा प्रभावित क्यो नही हो पाती थी। वास्तव मे समस्त रोम की जनता के छ वर्गों के १९३ सैचुरी मे से अकेले प्रथम वर्ग की ९८ सैचुरी होती थी, और चूंकि मतगणना सैचुरी के आधार पर की जाती थी इसलिये अकेले इस प्रथम वर्ग को बाकी अन्य वर्गों से मताधिक्य प्राप्त था। जब सब सैचुरी एकमत होती थी तो मतो का अभिलेखन भी छोड दिया जाता था, जो वास्तव में सख्यान्यून द्वारा निर्णीत हुआ था, उसे जनसमूह का निर्णय समझा जाता था, और हम यह कह सकते हैं कि Comitia centuriata मे कार्यों का विनियमन मतो के आधिक्य की अपेक्षा मुकुटों के आधिक्य के आधार पर होता था।

परतु इस अत्यधिक शक्ति का परिमितकरण दो प्रकार से होता था। प्रथम धर्मरक्षक सामान्यत और शिष्टवर्ग की अधिक सख्या सदा धनी श्रेणी मे होने के कारण, वे इस प्रथम वर्ग मे शिष्टवर्ग के प्रभाव को सतुलित करते थे।

दूसरा साधन इसमें वेष्टित था कि सैंचुरीज़ का मत वर्गों के क्रम से लेने की अपेक्षा, जिसके अंतर्गत पहला वर्ग सदा आरम्भ में होता था, आरम्भ करनेवाले वर्ग के नाम भाग्यपत्रक द्वारा निश्चित किया जाता था,[1] और केवल यही अकेला वर्ग निर्वाचन कार्य सम्पन्न करता था; तदनन्तर सब सैंचुरियाँ अपने क्रम के अनुसार किसी अन्य दिन आहूत होकर निर्वाचन को प्रचलित करती थी और साधारणत पुष्ट करती थी। इस प्रकार प्रजातन्त्र के सिद्धात के अनुसार, नेतृत्व की शक्ति क्रम से हटाकर भाग्यपत्रक द्वारा प्रदत्त की जाने लगी।

उपर्युक्त व्यवहार से एक और लाभ फलित हुआ, ग्राम्य क्षेत्र के नागरिको को दो निर्वाचनो के मध्य अस्थायी रूप से निर्वाचित हुए पदाभिलाषी के गुण दोषों के संबध मे पूरी जानकारी प्राप्त करने का समय उपलब्ध होने लगा, जिससे वे अपने मत तथ्यों के आधार पर अभिलिखित करने लगे। परतु त्वरता के बहाने से, इस व्यवहार को समाप्त कर दिया गया, और दोनो निर्वाचन एक ही दिन होने लगे।

कमिटिया tributa वास्तव मे रोम के लोगो की सभा थी। इसका आमन्त्रण केवल न्याय-रक्षको द्वारा किया जाता था, और इसमे न्यायरक्षको का निर्वाचन होता था और उनके plebiscite को पारित किया जाता था। इस सभा मे शिष्ट सभा का कोई अस्तित्व नही था, शिष्ट सभा को इसमे उपस्थित होने तक का अधिकार नही था, इस प्रकार जिन विधानो पर वे अपना मत नही दे सकते थे उन विधानो का भी अनुपालन करने को बाध्य होने के कारण, इस आधार पर, शिष्ट सभासद निम्नतम नागरिक की अपेक्षा कम स्वतन्त्र थे। यह अन्याय सर्वथा अव्यवहार कुशल था और केवल यही उस निकाय के प्रादेशो को अमान्य कराने को पर्याप्त सिद्ध हुआ जिसमे सब नागरिक उपस्थित नही हो सकते थे। यदि सब शिष्टवर्गीयजन इस कमिटिया मे नागरिको के अधिकार के रूप मे भाग लेते तो वे, सरल व्यक्तिरूप हो जाने के कारण, मतगणना के ऐसे प्रकार मे जहाँ मतो की गणना सख्यानुसार होती थी और जहाँ क्षुद्रतम निम्नवर्गीय शिष्ट सभा के प्रमुख जितनी शक्ति को प्राप्त कर सकता था, बहुत प्रभाव नही डाल सकते थे।

**१ यह सैंचुरिया, इस प्रकार भाग्यपत्रक से चुने जाने पर,** prarogativa **कहलाती थी, क्योंकि सर्वप्रथम इसका मत माँगा जाता था। इसी से शब्द** prerogative **प्राप्त हुआ।**

इसलिये हम देखते है कि इतने बड़े राष्ट्र के मतो को एकत्रित करने के हेतु विभिन्न भागो का जो क्रम सस्थापित किया गया, उसके अतिरिक्त इन भागो को किसी ऐसे आकार मे बद्ध नही किया गया जो स्वत निरपेक्ष हो, बल्कि प्रत्येक भाग से उसके निर्माण के अन्तर्निहित अभिप्रायो को प्रत्यक्षत प्राप्त किया गया।

उपर्युक्त तत्व का अधिक विस्तार से विवेचन न करते हुए भी, पूर्ववर्ती व्याख्या से यह सिद्ध है कि Comitia tributa शासन के और Com'tia centuriata शिष्ट जनराज्य के अधिक अनुकूल थी। जहाँ तक Comitra curiata का सबध है, जिसमें केवल रोम की जनता का सख्याधिक्य था, क्योकि यह जनता अत्याचार और दुष्ट प्रयोजनो के ही अनुकूल होती थी, इसलिये इस कमिटिया का अप्रतिष्ठित स्थिति मे अवतीर्ण हो जाना न्यायसगत ही था, चाहे राजद्रोही स्वत। ऐसे साधन से बिलग रहे जहाँ उनकी योजनाएँ प्रत्यक्षतया प्रकट हो जाती। यह निश्चित है कि रोम के लोगो की सम्पूर्ण आभा केवल Comitia centuriata मे ही प्रदर्शित होती थी, क्योकि केवल यह कमिटिया ही सम्पूर्ण थी, Comitia curiata मे ग्रामीय ट्राइब्स की और Comitja tributa मे शिष्ट सभा तथा शिष्टवर्गीय लोगो की अनुपस्थिति रहती थी।

आद्य रोम निवासियो मे मत अभिलेखन की रीति उतनी ही सरल थी जितनी उनकी अन्य प्रथाएँ, परतु फिर भी स्पार्टा से कम सरल थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने मत को ऊँची ध्वनि से प्रदर्शित करता था, और अभिलेखक इसे पजी मे दर्ज करता था। प्रत्येक ट्राइब के मताधिक्य से ट्राइब का मत निश्चित किया जाता था, ट्राइब्स के मताधिक्य द्वारा लोगो का मत निर्णीत किया जाता था, और यही प्रथा क्यूरी और सैचुरी मे अनुसारित होती थी। यह व्यवहार तब तक ठीक था जब तक नागरिको मे सत्यता व्याप्त थी और प्रत्येक व्यक्ति अपने मत को सार्वजनिक रूप मे किसी अन्यायपूर्ण कृत्य के लिये अथवा अयोग्य मनुष्य के लिये अभिलिखित करने मे शर्म अनुभूत करता था परतु जब लोग भ्रष्ट हो गये और मत क्रय किये जाने लगे, तो यह आवश्यक हुआ कि मतो का अभिलेखन गुप्त रूप से किया जावे ताकि क्रयकर्ताओ पर सदेह का नियत्रण रहे और धूर्तो को राजद्रोही बनने का अवसर न मिले।

मै जानता हूँ कि सिसरो इस परिवर्तन को दोषपूर्ण कहता है और इसका अशत कारण सघराज्य की अवनति को बताता है। परतु इस विषय मे, सिसरो के अधिकार का बल अनुभूत करते हुए भी, मै उसके मत को स्वीकार करने मे असमर्थ हूँ। इसके

विपरीत मेरी यह मान्यता है कि इस प्रकार के पर्याप्त परिवर्तन न करने के कारण राज्य का विनाशक्रम वेगशील हुआ। यथा स्वस्थ व्यक्तियो के पथ्य नियम रोगियो के अनुपयुक्त होते है, इसी तरह भ्रष्ट लोगो को उन विधानो के अतर्गत, जो उत्तम राज्य के अनुकूल है, प्रशासित करने की चेष्टा करना अवाछनीय है। इस युक्ति को वेनिस के गणराज्य की अपेक्षा कोई और दृष्टात अधिक तथ्यत सिद्ध नही करता है, अब इस गणराज्य का आकारमात्र रह गया है, क्योकि इसके विधान कुचेष्ट मनुष्यो के अतिरिक्त किसी और के उपयुक्त नही है।

इसलिये नागरिको मे गोलियाँ वितरित की जाने लगी जिनके आधार पर प्रत्येक अपने निर्णय को गुप्त रखते हुए अपना मतदान कर सके। गोलियो को एकत्रित करने के लिये, मतो की गणना करने के लिये, और सख्या की तुलना करने इत्यादि के लिये नवीन आवेष सस्थापित हुए। परन्तु इससे भी इन कार्यों को करनेवाले पदाधिकारियों की ईमानदारी पर संदेहारोपण समाप्त नही हुआ। अत मे, षड्यत्रो और मतो के क्रय-विक्रय को रोकने के लिये, कुछ राजघोषणाएँ की गई जिनकी सख्या उनकी निरर्थकता को सिद्ध करती है।

अतिम वर्षों मे, विधानो के दोषो की पूर्ति के हेतु, उन्हे बहुधा असाधारण उपकरणो का अवलबन करना पडा। कभी कभी विलक्षण गुणो का बहाना किया जाता था, परतु यह तरीका, जो लोगो को प्रभावित कर सकता था, उन पर जो प्रशासन करते थे बहुत प्रभावकारी नही हुआ। कई बार परिषद् का अधिवेशन पदाभिलाषियो को मतार्थन का समय देने के पूर्व ही शीघ्रता से आमत्रित कर लिया जाता था। कभी कभी, जब ऐसा आभास होता था कि लोग दोषी प्रस्ताव को पारित करने के लिये उद्यत कराये जा चुके है, समस्त अधिवेशन चर्चा मे ही समाप्त कर दिया जाता था। परन्तु अत मे प्रबल इच्छाओ ने सब वस्तुओ को अपवचित किया, और यह अविश्वसनीय प्रतीत होता है कि इतने भारी दोषो के मध्य यह महान् राष्ट्र अपनी प्राचीन सस्थाओ के अनुग्रह से दडाधिकारियो को निर्वाचित करने, विधानो को पारित करने, प्रकरणो को निर्णीत करने और सार्वजनिक और वैयक्तिक कार्यों को लगभग उतनी ही सरलता से निष्पादित करने मे जितनी शिष्ट सभा स्वत कर सकती थी, कभी पर्यवसित नही हुआ।

# परिच्छेद ५

## धर्मरक्षकता

जब राज्य के संघटक भागो में निश्चित सबध प्रतिष्ठापित नही किया जा सकता, अथवा जब अविनाशी कारण इन सबधो को निरतर परिवर्तित करते रहते हो, तो एक विशिष्ट दडाधिकार सस्थापित किया जाता है जो अन्यो मे समाविष्ट नही किया जाता, बल्कि जो प्रत्येक मर्यादा को अपने सत्य सबधो मे पुन स्थापित करता है, और शासनाधिकारी और लोगो के बीच, अथवा शासनाधिकारी और सार्वभौमिक सत्ता के बीच, अथवा आवश्यकतानुसार एक साथ ही उपर्युक्त दोनो के बीच, एक सम्पर्क अथवा मध्यस्थ मर्यादा निर्मित करता है।

यह निकाय, जिसको मै धर्मरक्षकता कहूँगा, विधानो का और विधायी शक्ति का परिरक्षक होता है। कभी कभी यह सार्वभौमिक सत्ता की शासन के विरुद्ध रक्षा करने मे सहायक होता है, यथा रोम मे लोगो के धर्मरक्षको ने किया था, कभी कभी यह शासन का लोगो के विरुद्ध समर्थन करता है, यथा वेनिस मे दसो की सभा अब कर रही है, और कभी कभी यह एक तथा दूसरे भाग मे साम्य सधृत करता है, जैसे स्पार्टा मे ऐफर्स ने किया था।

धर्मरक्षकता राज्य का सघटक भाग नही होता, और विधायी तथा अधिशासी शक्ति मे इसका कोई अश नही होना चाहिये, परतु इसी कारण धर्मरक्षकता की महानतम शक्ति होती है क्योकि स्वय कुछ न कर सकते हुए भी यह सब कार्यों को निवारित कर सकती है। शासनाधिकारी, जो विधानो को कार्यान्वित करता है, और सार्वभौमिक सत्ताधिकारी, जो विधानो को निर्मित करता है, की अपेक्षा विधानो के परिरक्षक होने के कारण यह अधिक पवित्र और अधिक आदरणीय है। रोम मे इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हुआ, जब अहकारी शिष्टवर्गीय, जो समस्त लोगों को सदा

घृणा की दृष्टि से देखते थे, लोगों के एक ऐसे सरल पदाधिकारी के समक्ष, जिसे न कोई सत्वाविधान और न कोई अधिकार-क्षेत्र उपलब्ध था, नमने को बाध्य हुए थे।

बुद्धियुक्त अनतिशील धर्मरक्षकता अच्छे सविधान का प्रबलतम समर्थनरूप होती है, परतु यदि इसकी शक्ति मे न्यूनतम भी अतिरेक घटित हो जाय तो यह प्रत्येक वस्तु को उलट देती है, जहाँ तक निर्बलता का सम्बन्ध है, वह इसमें स्वभाव से ही नही होती, और यदि इसमे कुछ भी शक्ति निहित हो, तो यह शक्ति जितनी होनी चाहिये उससे कभी न्यून सिद्ध नही होती।

जब धर्मरक्षकता अधिशासी शक्ति के मयनकर्ता होने के बजाय उस पर बलाधिकार प्राप्त कर लेती है अथवा जब यह विधानो को, जिन्हे इसे केवल प्रतिरक्षित करना चाहिये, निर्माण करने की इच्छुक हो जाती है, तो यह अत्याचार में विह्रसित हो जाती है। गेफर्स की महान शक्ति, जो उस समय तक, जब तक स्पार्टा अपनी नीति पर स्थापित रहा, भयरहित थी, भ्रष्टाचार आरम्भ हो जाने पर केवल इसे ही प्रोत्साहित करने मे सहायक हुई। इन अत्याचारियो द्वारा हत एजिस के रक्त का बदला उसके उत्तराधिकारी द्वारा लिया गया, परन्तु इस अपराध तथा ऐफर्स का दडित होना दोनो ने सघराज्य के पतन को शीघ्रगामी किया, और Cleomenes के अनतर स्पार्टा का कोई महत्त्व नही रहा। रोम भी इसी प्रकार विनष्ट हुआ, और धर्मरक्षको की प्रादेश द्वारा अनधिग्रहीत अत्यधिक शक्ति अत मे, स्वतत्रता के रक्षण हेतु बनाये हुए विधानो की सहायता से, उसे विनष्ट करनेवाले सम्राटो का ढाल मात्र बन गई। जहाँ तक वैनिस की दशीय सभा का सबध है, यह तो रक्त की धर्मसभा है जो शिष्ट वर्ग और लोग दोनो को भयावह है और जो विधानो को दृढता से परिरक्षित करने की अपेक्षा विधानोके पतन के समय से केवल गुप्त आघातो का एक साधन मात्र बन जाती है जिसकी मनुष्य चर्चा तक करने का साहस नही कर सकते।

शासन के समान, धर्मरक्षकता भी, सदस्यो की सख्या बढ जाने के कारण, निर्बल हो जाती है। जब रोम के लोगो के धर्मरक्षक, सर्वप्रथम सख्या मे दो, और तदनतर पाँच, अपनी सख्या को द्विगुणित करने के इच्छुक हुए, तो शिष्ट सभा ने उन्हें ऐसा करने की अनुमति दी, क्योंकि शिष्ट सभा को विश्वास था कि एक सदस्य द्वारा दूसरे को नियन्त्रित किया जा सकता है, और घटित भी ऐसा ही हुआ।

इतने प्रबल निकाय को बलाधिकार से निवारित करने का उत्तम साधन यह होगा—इस साधन को अभी तक किसी शासन ने प्रयुक्त नही किया है—कि इस निकाय

को स्थायी न बनाया जाय, परतु कुछ ऐसे मध्यंतर निश्चित किये जाएं जिनमें यह निलंबित रहे। इन मध्यतरो का, जो इतने दीर्घ नही होने चाहियें कि दोष संस्थापित हो सके, निश्चयन विधान द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है कि आवश्यकता के अनुसार असाधारण आयोगो द्वारा उन्हे सक्षिप्त करना सरल हो सके।

मुझे उपर्युक्त रीति आपत्तिरहित प्रतीत होती है, क्योकि जैसे मै पहिले कह चुका हूँ, धर्मरक्षकता सविधान का अग न होने के कारण बिना अहित के लुप्त की जा सकती है, और मुझे यह रीति बहुत फलोत्पादक प्रतीत होती है, क्योकि नवनियुक्त पदा-धिकारी अपने पूर्वाधिकारी की शक्ति से कार्यारंभ नही करता, परतु विधान द्वारा प्रदत्त शक्ति का ही प्रयोग करता है।

# परिच्छेद ६

## एक शास्तृत्व

विधानो की अनानम्यता, जो उनको मकटकालीन स्थितियों के अनुरूप बनने मे बाधक होती है, किन्ही दिशाओ मे उन्हे मर्वथा प्रणाशी बना देती है, और इस कारण सकटकाल मे राज्य के विनाश का कारण बन जाती है। प्रकारो का क्रम तथा मंदता ममय के इतने अतर की माँग कग्ते है कि परिस्थितियाँ कभी कभी ऐसा होने ही की अनुमति नही देती। महस्र ऐसे प्रकरण स्थापित हो मकते है जिनका विधिकर ने पूर्वाविधान न किया हो, और यह धारणा कि प्रत्येक वस्तु की पूर्वकल्पना नही हो सकती दूरदर्शिता का एक आवश्यक अश है।

इमलिए हमे राजनीतिक सस्थाओ को इतनी दृढता से सस्थापित करने की इच्छा नही करनी चाहिये कि उनके प्रभाव को निलबित करना सभाव्य ही न रहे। स्पार्टा तक ने अपने विधानो को निष्क्रिय बनाने की मभावना रखी थी।

परन्तु सार्वजनिक क्रम को परिवर्तित करने के भय को केवल असाधारण सकट ही उद्भारित कर मकते है और अतिरिक्त उस परिस्थिति के जब देश की सुरक्षा ही मकट मे पड जाये, विधानो के पवित्र बल मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये। उपर्युक्त बिरली तथा प्रत्यक्ष परिस्थितियो मे, सार्वजनिक क्षेम का प्रावधान एक विशिष्ट कृत्य द्वारा किया जाता है। जिसके अन्तर्गत समस्त भार योग्यतम मनुष्य पर डाला जाता है। भय के प्रकार के अनुसार ही यह आयोग दो रीतियो से प्रतिपादित किया जाता है।

यदि उपर्युक्त दोष को निवारित करने के लिये शासन के कार्यों मे सवर्द्धन कर देना पर्याप्त हो, तो हम उसे एक अथवा दो शासकीय सदस्यो मे सकेन्द्रित कर सकते है। उस दशा मे विधानो के प्रभुत्व में परिवर्तन नही होता, परन्तु उनके प्रशासन के प्रकार मे ही परिवर्तन होता है। परन्तु यदि भय इस प्रकार का हो कि विधानो की नियमित

विधा ही हमारे क्षेम के प्रति बाधक हो जाय, तो एक वरिष्ट प्रमुख मनोनीत किया जाता है जिसे संपूर्ण विधानो को अवरुद्ध करने और सार्वभौमिक सत्ता को अल्पकाल के लिये स्थगित करने तक का अधिकार होता है; उस दशा मे सर्वसाधारण प्रेरणा सशयात्मक नहीं रहती, और यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि लोगो की प्राथमिक अभिलाषा यह है कि राज्य विनष्ट न हो जाय। इस प्रकार विधायी शक्ति के निलबन में इसकी समाप्ति निहित नही होती, जो दडाधिकारी इसे मूक करता है वह इसे वाणी नही दे सकता, वह इसका प्रतिनिधित्व करने की शक्ति प्राप्त किये बिना ही इसका प्रभु होता है, वह प्रत्येक कार्य कर सकता है परन्तु विधान नही बना सकता।

प्रथम रीति का प्रयोग रोम की शिष्ट सभा द्वारा किया गया था जब कि उसने उपराज्यपालो को एक पावन सूत्र द्वारा गणराज्य के क्षेम का प्रावधान करने के लिये भारित किया था। द्वितीय रीति उस समय प्रयुक्त हुई थी जब दोनो उपराज्यपालो मे से एक ने शासता को उस प्रथा के अन्तर्गत मनोनीत किया[1] जिसका पूर्व प्रमाण रोम मे आल्बा द्वारा स्थापित हुआ था।

गण राज्य के आरम्भ मे एकशास्तृत्व का उपश्रयण बहुधा किया जाता था, क्योकि तब तक राज्य की अपने सविधान के बल पर स्वत को सधृत करने के हेतु पर्याप्त दृढ नीव नही बनी थी।

सार्वजनिक सदाचरण के कारण उस समय अनेक ऐसी सावधानियाँ अनावश्यक थी जो अन्य समय मे आवश्यक हो सकती थी कोई एकशासता अपने प्रभुत्व का दुरुपयोग करेगा, अथवा मर्यादा के परे अपने प्रभुत्व को प्रतिधारित करने की चेष्टा करेगा, इसका कोई भय ही न था। इसके विपरीत ऐसा लगता था कि इतनी अधिक शक्ति उस व्यक्ति के लिये जो इससे सज्जित होता था, भार स्वरूप होगी क्योकि वह अपने आप को इससे शीघ्रतया पृथक् करने की ही चेष्टा करता था, जैसे कि विधानो का स्थान प्राप्त करना अति दुष्कर और अति भयानक पद होता हो।

इसलिए इसके दुष्प्रयोग की अपेक्षा इसके पतन के भय के कारण ही मै आद्यकाल मे इस वरिष्ट दडाधिकारता के अविवेकी प्रयोग की समालोचना करता हूँ। क्योकि जब तक इसका मुक्त प्रयोग निर्वाचनो, समर्पणो और शुद्ध औपचारिक कार्यो तक ही सीमित रहा, तब तक यह भय लगा रहा कि आवश्यकता के समय मे इसे कम महत्त्वपूर्ण

**१ यह मनोनयन रात्रि को और गुप्त रीति से किया गया था, मानो वे किसी एक मनुष्य को विधानों के ऊपर स्थित करते हुए स्वयं लज्जित थे।**

न समझा जाय और लोग इसे एक ऐसी थोथी पदवी के रूप में जिसका प्रयोग सारहीन उत्सवों में ही होता है अवलोकित करने के अभ्यस्त न हो जाँय।

गणराज्य के अंतकाल में, रोम निवासियों के अधिक सतर्क हो जाने से, अकारण ही एकशास्तृत्व का प्रयोग उतना ही कम किया जाने लगा जितना कि पूर्व में आधिक्य से किया जाता था। यह अवलोकन करना सुगम है कि उनका एक शास्तृत्व के प्रति भय बिलकुल निराधार था, कि राजधानी की दुर्बलता उन दंडाधिकारियो के विरुद्ध, जो राजधानी में पदासीन थे, पर्याप्त प्रन्यास रूप थी, कि विशिष्ट परिस्थितियो में एक शासता सार्वजनिक स्वतंत्रता को आक्रमित करने की अपेक्षा परिरक्षित करने में सहायक हो सकता था, और कि रोम के बधन स्वत· रोम में ही नही बल्कि उसकी सेनाओ में निर्मित हो रहे थे। जो न्यून रोध मैरियस सिला के विरुद्ध और पौम्पी सीजर के विरुद्ध कर सका उससे स्पष्ट विदित था कि आन्तरिक प्रभुत्व बाह्य बल के विरुद्ध कितना प्रभावशील हो सकता है।

इस विभ्रम के कारण उनसे महान् गलतियाँ हुई, उदाहरणार्थ, कैटलीन के प्रकरण में किसी एक-शासता को नियुक्त न करना। क्योकि केवल नगर के अन्दर अथवा अत्यन्तत. इटली के सीमित क्षेत्र का ही प्रश्न था, इसलिए एक-शासता विधानो द्वारा प्रदत्त असीमित शक्ति द्वारा सुगमता से षड्यत्र को भग्न कर सकता था, जो केवल ऐसी सुन्दर घटनाओ के संयोजन द्वारा दमन हो सका जिसकी कल्पना मानुषिक बुद्धि कभी नही कर सकती थी।

उपर्युक्त नीति अपनाने की अपेक्षा शिष्ट सभा ने अपनी सपूर्ण शक्ति को उपराज्यपालो में प्रन्यस्त करना सतोषप्रद महसूस किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रभावी कार्य करने के लिये सिसरो को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अपने प्रभुत्व का अतिरेक करने को बाध्य होना पडा, और यद्यपि प्रसन्नता के प्रथम परिवहन मे उसका आभार अनुमोदित हो गया, परन्तु तदनतर विधानो के विपरीत नागरिको का रक्त बहाने के लिये उसे न्यायत प्राभियोजित किया गया, यह तिरस्कार एकशासता के प्रति नही किया जा सकता था। परन्तु उपराज्यपाल की वक्तृत्व शक्ति से प्रत्येक व्यक्ति विजित हो गया, और स्वय रोमन होते हुए, उसने देश के हित की अपेक्षा अपनी निजी प्रसिद्धि को अभिमान्य करके राज्य को बचाने के निश्चिततम और नैयायिकतम साधनों की खोज करने के बजाय उसने ऐसी रीति को अपनाया जिससे इस घटना का

समस्त यश अपने लिये प्राप्त कर सके ।[1] इसलिए यह बिलकुल न्यायसंगत है कि रोम के मुक्तिदाता के रूप में उसका आदर हुआ और विधानो के आक्रमणकारी के रूप में वह दंडित हुआ । उसका प्रत्यावर्तन देदीप्यमान होते हुए भी वास्तव में वह एक क्षमादान ही था ।

अपरच, इस महत्वपूर्ण आयोग का प्रदान किसी रीति से भी किया जाय, यह आवश्यक है कि इसकी अवधि एक बहुत लघु सीमा तक निश्चित हो जिसे लबित करना सभव न हो सके, जिन सकटावस्थाओ मे यह आयोग प्रकट होता है राज्य जल्दी ही विनष्ट अथवा सुरक्षित हो जाता है,और अविलबनीय आवश्यकता समाप्त हो जाने के अनन्तर, एकशास्तृत्व अत्याचारपूर्ण अथवा निरर्थक हो जाता है । रोम मे एकशासता की अवधि केवल छ माम थी, और इस अवधि के समाप्त होने के पूर्व ही सख्याधिक्य ने पदत्याग किया । यदि अवधि अधिक दीर्घ होती, तो मभवत इसे और अधिक बढाने के लिये वे प्रलोभित होते, जैसे द्वादशो ने अपनी एक वर्ष की अवधि को बढाया था । एकशासता को केवल उस आवश्यकता की पूर्त्ति करने भर का समय मिल सका जिसके कारण उसका निर्वाचन हुआ था, अन्य योजनाओ के सबंध मे विचार करने का उसे समय ही नही मिला ।

१ एकशासता का प्रस्ताव करने में उसे यह संतोष नहीं हो सकता था, वह अपना नाम निर्दिष्ट नहीं कर सकता था और उसे यह विश्वास नहीं हो सकता था कि उसका साथी उसे मनोनीत करेगा ।

# परिच्छेद ७

## दोषवेचना

यथा सर्वसाधारण प्रेरणा की उद्घोषणा विधान द्वारा होती है उसी प्रकार जनमत की घोषणा दोषवेचना द्वारा होती है। जनमत विधान का एक प्रकार है जिसका दोषवेचक प्रशासी अधिकारी होता है और शासनाधिकारी की भाँति वह इसे विशिष्ट दशाओ मे ही प्रयोग करता है।

इसलिए दोषवेचकगण लोगो के मत के विवेचक होने की अपेक्षा केवल उद्घोषक होते है, और ज्योही यह उपर्युक्त स्थिति से विचलित हो जाते हैं, उनके निर्णय विफल और प्रभावहीन हो जाते है।

किसी राष्ट्र के चरित्र और उसकी मान्यता के प्रयोजनो मे अतर करना निरर्थक है, क्योकि ये सपूर्ण वस्तुएँ समान सिद्धान्त पर आधारित होती है और आवश्यक रूप मे सम्मिश्रित होती है। विश्व के सपूर्ण राष्ट्रो मे, स्वभाव नही, परन्तु मत ही प्रसादो के वरण को निर्णीत करता है। मनुष्यो के मत को सुधार दीजिये, और उनकी रीतियाँ स्वत विशुद्ध हो जायँगी। लोग सदा उसे पसन्द करते है जो औचित्यपूर्ण हो अर्थात् जिसे वे औचित्यपूर्ण समझे, और इस समझ में वे गलती कर देते है, इसलिये प्रश्न यह है कि उनकी समझ को ठीक निर्दिष्ट करना चाहिये। जो रीतियो का निर्णय करता है वह मान का निर्णय भी करता है। और जो मान का निर्णय करता है वह अपना विधान मत द्वारा प्राप्त करता है।

राष्ट्र का मत उसके सविधान से उत्प्रवित होता है, यद्यपि विधान शील का नियमन नही करता, तथापि विधायीकरण उसकी उत्पत्ति करता है। जब विधायीकरण क्षति-ग्रस्त हो जाय तो शील भी भ्रष्ट हो जाता है, परन्तु उस दशा में दोषवेचको का निर्णय वह कार्य नही कर सकता जो विधानो की शक्ति ही करने में असफल रही।

इससे यह सिद्ध है कि दोषवेचना शील को परिरक्षित करने में लाभप्रद होती है इसे पुन: प्राप्त करने में नहीं। जब विधान ओजस्वी हो उस समय दोषवेचकों का सस्थापन करना चाहिये, क्योंकि ज्योही उनकी शक्ति लुप्त हो जाती है तो सब कुछ समाप्त हो जाता है। जब विधान ही अपने बल को खो बैठे हो, तो कोई अन्य वस्तु विधानसंगत होने के कारण बल प्राप्त नही कर सकती।

मतो को भ्रष्ट होने से निवारित करके, बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयुक्तियो द्वारा उनकी पवित्रता को परिरक्षित करके, कभी कभी जब वे अनिश्चित हो तो उन्हे निश्चित करके, दोषवंचना शील को समर्थित करती है। द्वन्द्वो में द्वितीयो का प्रयोग जो फ्रास राज्यो में उन्मत्त चरमसीमा तक बढ गया था, राजा के प्रादेश मे निहित इन सरल शब्दो द्वारा समाप्त हो गया—"जहाँ तक उन कायरो का सबध है जो द्वितीयो को नियुक्त करते है।" सार्वजनिक निर्णय की पूर्वविधारणा करनेवाले इस निर्णय से तुरन्त फैसला हो गया। परन्तु जब इन प्रादेशो ने यह उद्घोषित करना चाहा कि द्वन्द्व युद्ध करना भी कायरता है, जो सर्वथा सत्य है, परन्तु साधारण मत के विपरीत है, तो जनता ने इस फैसले का उपहास किया, क्योकि इस विषय पर इसका अपना निर्णय पहले ही बन चुका था।

मैं एक अन्य स्थान पर कह चुका हूँ[1] कि चूँकि जनमत का निबाध नही हो सकता इसलिये जनमत का प्रतिनिधित्व करने के लिये जो वर्ग स्थापित किया जाय उसमें निबाध का अवशेष नही होना चाहिये। आधुनिक लोगो मे पूर्णतया विलुप्त इस बल का सचार रोम के लोगो में, और उससे भी अधिक सुन्दर रीति से लसेडोमिस में, किस कलात्मक ढग से होता था, उसकी हम जितनी अधिक प्रशसा करे थोडी है।

स्पार्टा की सभा मे एक अच्छा प्रस्ताव किसी दुश्चरित्र मनुष्य द्वारा सस्थापित किये जाने पर एफर्स ने उसे बिना देखे उसी प्रस्ताव को एक अन्य धर्मपरायण नागरिक द्वारा प्रस्तावित कराया था। दोनो को प्रशसित अथवा तिरस्कृत किये बिना ही एक को कितना आदर और दूसरे को कितना कलक प्राप्त हो गया। सामोस के कुछ शराबियो ने[2] एफर्स की धर्मसभा को अनादरित कर दिया, अगले ही दिन एक

१. इस परिच्छेद में केवल इस विषय को दर्शाता हूँ जिसका मैंने अधिक विस्तार से Letter to M d' Alembert में विवेचन किया है।

२ ये लोग किसी और द्वीप के रहनेवाले थे, परन्तु हमारी भाषा की सुकुमारता इस अवसर पर इस द्वीप का नाम अंकित करने से हमें रोकती है।

सार्वजनिक आदेश द्वारा सामोस के लोगों को गन्दा रहने की अन्य आशा प्रदान हो गयी। कोई वास्तविक दंड इस मुक्ति जैसा सख्त नहीं हो सकता था। जब स्पार्टा यह उद्घोषित करता था कि कौन कृत्य सम्माननीय अथवा इसके विपरीत है तो यूनान देश उसके निर्णयों के विरुद्ध पुनर्विचार की कोई प्रार्थना नहीं करता था।

## परिच्छेद ८

### सामाजिक धर्म

आरभ मे ईश्वर के अतिरिक्त मनुष्यो का कोई राजा नही था, और ईश्वरतन्त्र के अतिरिक्त कोई शासन नही था। वे कैलीक्युला के समान तर्क करते थे, और उस समय उनका तर्क भी न्यायसगत होता था। अपने ही एक साथी को स्वामी के रूप में ग्रहण करने का सकल्प करने और यह सतोष प्राप्त कर सकने के लिये कि ऐसा करने मे उनका भला होगा, मनुष्य को अपनी भावनाओ और विचारो को बहुत देर तक बदलना आवश्यक है।

केवल इस परिस्थिति से कि राजनीतिक समाज का प्रमुख ईश्वर होता था, यह प्रत्यक्ष है कि जितने राष्ट्र थे उतने ही ईश्वर होने चाहिये। दो राष्ट्र, जो एक दूसरे से विभिन्न है और प्राय सदा शत्रु है, एक ही स्वामी को दीर्घकाल तक स्वीकार नही कर सकते थे। युद्धरत दो सेनाएँ एक ही नेता का आज्ञापालन नही कर सकती थी। इसलिए राष्ट्रो के विभाजन का परिणाम अनेक ईश्वरवाद हुआ और इससे आध्यात्मिक और सामाजिक असहिष्णुता स्थापित हो गयी, प्रकृतित उपर्युक्त दोनो एक ही है जिसका बाद मे निरूपण किया जायगा।

ग्रीक लोगो की यह मायावी धारणा कि असभ्य लोगो के मध्य वे अपने ही देवताओ को मान्य करते थे, इसलिए कल्पित हुई कि वे अपने आपको उन लोगों का स्वाभाविक सार्वभौम सत्ताधिकारी मानते थे। परन्तु आधुनिक काल मे ऐसा ही हास्यास्पद पाण्डित्य विभिन्न राष्ट्रो के देवताओ की सारूपता पर आधारित है, अर्थात इस बात पर कि Moloch, Saturn & Chonos एक ही ईश्वर के नाम है अथवा Phoenician लोगो का Baal, Greek लोगो का Zeus, और रोमन लोगो का जुपिटर एक ही है, गोया विभिन्न नाम धारण करनेवाले काल्पनिक जीवो मे कोई समानता हो सकती है।

परन्तु यदि यह प्रश्न किया जाय कि ईसाइयत के पूर्वकाल में जब प्रत्येक राज्य अपनी अलग पूजा और अपना अलग ईश्वर धारण करता था, क्यों धार्मिक युद्ध नहीं हुए, तो मेरा उत्तर होगा कि इसका उपर्युक्त ही कारण है, क्योंकि प्रत्येक राज्य अपने शासन की तरह पूजा का विशिष्ट प्रकार धारण करते हुए अपने विधानों को अपने देवताओं से विभिन्न नहीं मानता था। राजनीतिक युद्ध धार्मिक भी होते थे; ऐसा कहना चाहिये कि देवताओं के विभाग राष्ट्रों की सीमा से निर्धारित होते थे। एक राष्ट्र के देवता अन्य राष्ट्रों पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं करते थे। मूर्तिपूजकों के देवता ईर्षालु नहीं होते थे, उन्होंने विश्व का साम्राज्य आपस में विभाजित कर लिया था। मोजेज और यहूदी राष्ट्र भी कभी कभी इस विचार को अनुमोदित करते थे क्योंकि वह इज़राइल के देवता का उल्लेख करते थे। यह सत्य है कि वे केननाइट के देवताओं को महत्त्वपूर्ण नही मानते थे, क्योंकि वह राष्ट्र बहिष्कृत और विनाशकारी था, जिसके देश को यहूदी स्वयं प्राप्त करना चाहते थे, परन्तु उन पडोसी राष्ट्रों के देवताओं का, जिन पर आक्रमण करना उनके लिये निषिद्ध था, वे निम्न प्रकार उल्लेख करते थे: Jephthan ने Ammonites को कहा "तुम्हारे देवता चामोस के स्वामित्व की वस्तु क्या वह नैयायिक रूप से तुम्हारी नही है? समान उपाधि से जिन क्षेत्रों को हमारे विजेता देवता ने अवाप्त कर लिया वे हमारे हो गये हैं।"[1] मेरी यह मान्यता है कि उपर्युक्त कथन मे चामोज़ के अधिकार और इज़राइल के देवता के अधिकारो मे अधिमानित समाहृता निहित है।

परन्तु जब यहूदियो ने बैब्युलून के राजा और तदनतर सीरिया के राजाओ के अधीन हो जाने पर अपने देवता के अतिरिक्त किसी अन्य देवता को स्वीकार करने से हठपूर्वक इनकार किया तो विजेता द्वारा उस इनकार को राजद्रोह मानकर

१. उपर्युक्त पाठ वल्गेट का है। पेयर दि कारिये ने इसका नियमानुसार अनुवाद किया है "क्या तुम्हारी यह मान्यता नहीं है कि जो तुम्हारे देवता चामोस के स्वामित्व में हैं उसे प्राप्त करने का तुम्हारा अधिकार है?" मै हिब्रू के पाठ के ठीक अर्थ से अनभिज्ञ हूँ परन्तु मै यह देखता हूँ कि वल्गेट जैप्था ने देवता चामोस के अधिकार को निश्चित रूप से मान्य किया है और फ्रांसीसी अनुवादक ने इस स्वीकृति को "तुम्हारे मतानुसार" यह शब्द जो लैटिन में नहीं है, जोड़कर दुर्बल कर दिया है।

उन पर उत्पीड़ना की बौछार की गयी, जिसका उल्लेख हम उनके इतिहास में पढ़ते हैं और जो ईसाई धर्म से पहले उपद्रवो का एक मात्र उदाहरण है ।[१]

इसलिए प्रत्येक धर्मराज्य द्वारा निर्धारित विधानों से अन्य रूपेण आसजित होने के कारण, किसी राष्ट्र को वशीभूत करने के अतिरिक्त परिवर्तित करने का कोई और मार्ग नही था और विजेताओ के अतिरिक्त कोई और धर्मप्रचारक नही होते थे, और विजितो पर अपनी पूजा का आकार बदलने का दायित्व विधान द्वारा आरोपित होने के कारण धर्म परिवर्तन की बात करने के पूर्व विजित करना आवश्यक था। मनुष्य देवताओ के लिये युद्ध करने की अपेक्षा, यथा होमर में, देवता मनुष्यो के लिये युद्ध करते थे, प्रत्येक व्यक्ति अपने देवता से अपने विजय की याचना करता था और नयी वेदियाँ बनाकर उऋण होता था। किसी स्थान पर आक्रमण करने से पूर्व रोमन लोग वहाँ के देवताओं को उसे छोड देने के लिये आहूत करते थे और जब उन्होने Tarentins के पास उनके उत्तेजित देवताओ को छोडा तो केवल इसलिये कि वे उन देवताओ को अपने देवताओ के अधीन और अपने देवताओ के प्रति प्रभुभक्ति अर्पित करने के लिये बाध्य मानते थे। उन्होने विजितो के देवताओ को उसी प्रकार स्थिर रहने दिया जैसे उनके विधानो को। राजधानिक जुपिटर के लिये एक मुकुट, बहुधा वे विजितो पर यही उपहार आरोपित करते थे।

अत में रोम के लोगो द्वारा अपनी पूजा तथा अपने देवताओ को अपने साम्राज्य के साथ साथ विस्तृत कर लिये जाने के कारण, और बहुधा विजितो की पूजा और देवताओ को, सबको नागरिकता का अधिकार अनुदत्त करके, अभिस्वीकृत कर लेने के कारण इस विस्तृत साम्राज्य के राष्ट्र अलक्ष्यत यह अवलोकित करने लगे कि उनके देवताओ और धर्मों की सख्या अधिक और सब जगह समान हो गयी है और यही कारण है कि अत में मूर्तिपूजा को विश्व मे एक ही धर्म माना जाने लगा।

उपर्युक्त दशा मे जीसस भूमि पर एक आध्यात्मिक राज्य सस्थापित करने को अवतरित हुआ, धार्मिक क्रम को राजनीतिक क्रम से अलग करके इस आध्यात्मिक सगठन ने राज्य की एकता को विनष्ट कर दिया और आन्तरिक विभाजनो को उत्पन्न

१ फ़ोशियों का युद्ध, जिसे पवित्र युद्ध कहा जाता है, वास्तव में धार्मिक युद्ध नहीं था, इसका बृहतम प्रमाण प्राप्त है। इस युद्ध का उद्देश्य दोषियों को दंडित करना था, अविश्वासियों को विजित करना नहीं।

कर दिया जो निरतर ईसाई राष्ट्रों को क्षोभित करते आ रहे हैं। अन्य विश्व में स्थापित राज्य का यह नवविचार मूर्तिपूजको के मस्तिष्क में कभी प्रविष्ट न हो सकने के कारण, वे ईसाइयो को सदा वास्तविक राजद्रोही मानते रहे और यह समझते रहे कि दभी अनुवर्तन के आवरण में यह लोग अपने आपको स्वतन्त्र और वरिष्ट बनाने का अवसर खोज रहे हैं और चतुरता से उस प्रभुत्व पर बलाधिकार करना चाहते हैं जिसे निर्बलता के कारण वे आदरित करने का बहाना करते हैं। उत्पीडनो का यही कारण है।

जिस बात का मूर्तिपूजको को डर था वह वास्तव में घटित हो गयी , तब हर चीज का रूप बदल गया, नम्र ईसाइयो ने अपनी ध्वनि बदल दी, और शीघ्र ही यह मिथ्या अन्य विश्व का राज्य इसी विश्व में एक प्रत्यक्ष प्रमुख के अधीन उग्रतम अनियत्रित राज्यक्रम का रूप धारण कर गया।

परन्तु चूकि उपर्युक्त राज्य मे सदा ही शासनाधिकारी और सामाजिक विधान रहे है, इसलिए इस द्विपक्षीय शक्ति के कारण अधिकारक्षेत्र का शाश्वत विरोध उत्पन्न हुआ जिसके परिणामस्वरूप ईसाई राज्यो मे एक किसी उत्तम शासन विधि का सस्थापन असभव हो गया, प्रत्येक व्यक्ति यह समझने मे असफल रहा कि उसके लिए राजा का आज्ञापालन करना उचित है अथवा पुरोहित का।

तथापि यूरोप मे तथा उसके समीपस्थ क्षेत्रो में भी, अनेक राष्ट्र इस प्राचीन पद्धति को परिरक्षित करने अथवा पुन स्थापित करने के इच्छुक हुए, परन्तु असफल रहे। ईसाइयत का सत्व प्रत्येक वस्तु पर आच्छादित हो गया। आध्यात्मिक पूजा सदा सार्वभौमिक सत्ताधिकारी की स्वतत्रता को प्रतिधारित अथवा पुन स्थापित करती थी, परन्तु राज्य के निकाय से कोई आवश्यक सबध स्थापित किये बिना। मोहम्मद के विचार बहुत स्वस्थ थे, उसने अपने राजनीतिक क्रम को पूर्णरूपेण एकीकृत कर दिया और जब तक उसके उत्तराधिकारी खलीफो के अधीन उसके द्वारा स्थापित शासकीय प्रकार निर्वाहित रहा, शासन बिलकुल अभग्न और उस दृष्टि से उत्तम रहा। परन्तु सपन्न, विद्वान, सुसस्कृत, स्त्रीवत् और आलसी हो जाने के कारण अरब के लोग असभ्य लोगो द्वारा विजित हो गये और तब दो शक्तियो के बीच विभाजन पुन आरभ हो गया। यद्यपि यह विभाजन मुसलमानो में उतना प्रत्यक्ष प्रतीत नही होता जितना ईसाइयो मे, तथापि उनमे भी और विशेषकर अली के सम्प्रदाय मे यह अतर वर्तमान है, और ऐसे राज्य वर्तमान हैं, उदाहरणार्थ ईरान, जिनमे यह अब भी अवलोकित हो सकता है।

हम लोगो में, इगलैण्ड के राजाओ ने अपने आपको धर्म का प्रमुख प्रतिष्ठापित कर लिया। जार ने भी ऐसा ही किया है। परन्तु इस उपाधि द्वारा उन्होने अपने आपको

धर्म का प्रशासी अधिकारी ही बनाया है, शासक नही । धर्म को परिवर्तित करने का अधिकार अवाप्त नही किया है केवल सधृत करने का ही , वे धर्म के विधायक नहीं बन सके, परन्तु धर्म के राजक ही बने । जहाँ कही पादडी लोग एक निगम स्थापित कर लेते है[1] वे अपने देश के स्वामी तथा विधायक होते है । इस प्रकार इगलैण्ड और रूस मे भी दूसरे देशो के समान दो शक्तियाँ और दो सार्वभौमिक सत्ताधिकारी ही रहे ।

सब ईसाई लेखको मे केवल दार्शनिक हौब्स ही एक ऐसा है जिसने इस दोष का तथा इसके प्रतिकार का प्रत्यक्ष निरूपण किया है और जिसने यह प्रस्ताव करने का साहस किया है कि चील के सिरो को पुन सयुक्त कर देना चाहिये और राजनीतिक एकरूपता को सपूर्णतया पुन स्थापित कर देना चाहिये, क्योकि इसके बिना कोई राज्य और शासन सुसगठित नही हो सकता । परन्तु इस दार्शनिक को देखना चाहिये था कि ईसाइयत का मदोद्धत सत्व उसको पद्धति से असगत है और राज्य की अपेक्षा पुरोहित का हित सदा अधिक प्रबल होनेवाला है । यदि इसका सिद्धान्त अप्रिय हुआ है तो इसके भयानक और मिथ्याखडो के कारण नही बल्कि न्याय और सत्य खडो के कारण ही हुआ है[2] ।

मेरी मान्यता है कि ऐतिहासिक तथ्यो को इस दृष्टिकोण से विकसित करके बेल और बार्बटन के विपरीत मत सुगमता से खडित हो सकते है । बेल की धारणा है कि कोई धर्म भी राजनीतिक निकाय को लाभप्रद नही होता । इसके विपरीत बार्बटन का

१. यह निरूपित करना आवश्यक है कि जो पावडियो को एक निगम में बद्ध करता है वह फ्रास के समान नियमित परिषदो का अस्तित्व नहीं होता परन्तु सम्प्रदायो का सम्पर्क होता है । सम्पर्क और बहिष्कार, ये पावड़ियो के सामाजिक पावण है और इस पावण द्वारा वे सदा राजाओं और राष्ट्रों के स्वामी बने रहेंगे । सब पुरोहित जो समान सम्पर्क के है सह-नागरिक हैं यद्यपि वे एक दूसरे के इतने दूरस्थ हैं जितने ध्रुव । यह आविष्कार नीति की एक अत्यसम रचना है । मूर्तिपूजक पुरोहितों में इसके समान कुछ नहीं था, इ रीलिये वे कभी पावड़ियों का निगम निर्माण नहीं कर सके ।

२. अवलोकन हो, दूसरों के मध्य, ग्रोशस के ११ अप्रैल, १९४३ को अपने भाई को लिखे एक पत्र में, कि वह विद्वान मनुष्य De Cive पुस्तक में किस बात का अनुमोदन करता था और किसको दूषित समझता था । यह सत्य है कि, दयालु प्रवृत्ति होने के कारण, वह लेखक को अच्छाई की वजह से दूषित भाग के लिये क्षमित करता हुआ प्रतीत होता है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति इतना दयालु नहीं होता ।

दृढ़ मत है कि ईसाइयत राजनीतिक निकाय का प्रबलतम समर्थन होता है। पूर्व लेखक के हितार्थ यह प्रमाणित किया जा सकता है कि कोई राज्य भी उसका आधार धर्म हुए बिना प्रस्थापित नही हो सका है, और द्वितीय लेखक के हितार्थ कि ईसाई विधान राज्य के दृढ संविधान के लिये लाभप्रद होने की अपेक्षा अधिक क्षतिप्रद है। मुझे अपने विषय को समझाने मे सफल होने के लिये, धर्म के सबध में अति अनिश्चित विचारों को कुछ सुतथ्यता देनी ही पडेगी।

समाज के सबध मे अवलोकित करते हुए, जो साधारण अथवा विशिष्ट होती है धर्म के भी दो प्रकार किये जा सकते उ—अर्थात् मनुष्य का धर्म अथवा नागरिक का धर्म। प्रथम प्रकार जिसमे न मदिर, न वेदियाँ, न सस्कार होते है और जो वरिष्ट ईश्वर की पूर्णरूपेण आन्तरिक पूजा और शील के शाश्वत दायित्वो तक सीमित होता है, इजील का पवित्र और सरल धर्म है, यह सत्य ईश्वरवाद है जिसे प्राकृतिक ईश्वरीय विधान भी कहा जा सकता है। द्वितीय प्रकार जो किसी एक देश में अकित होता है, उस देश को उसके देवता और विशिष्ट और समृद्धिदायक सरक्षक प्रदान करता है, इसके सिद्धान्त होते है, सस्कार होते है और विधानो द्वारा स्थापित बाह्य पूजा होती है , उस एकल राष्ट्र के अतिरिक्त जो इसका पालन करता है, इसकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु नास्तिक, विदेशी और असभ्य होती है, इसके अन्तर्गत मनुष्यो के कर्तव्य और अधिकार केवल इसकी वेदियो तक ही सीमित होते है। आद्य राष्ट्रो के धर्म जिन्हे ईश्वरीय, सामाजिक अथवा यथार्थ विधान कहा जाता है, सब इसी प्रकार के थे।

एक तीसरे प्रकार का, और अधिक अतिशय रूपी, धर्म भी है, जो मनुष्यो को दो विधानो की श्रेणियाँ, दो राजक और दो देश देने के कारण उन पर विरोधाभासी दायित्व आरोपित करता है और साथ ही उन्हे धार्मिक मनुष्य और नागरिक बनने से निवारित करता है। यह लामा लोगो का धर्म है, यह जापानियो का धर्म है और यह रोमन ईसाइयत का धर्म है। इस प्रकार को पुरोहित का धर्म भी कहा जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप एक सम्मिश्रित प्रकार का विधान उत्पादित होता है जिसका कोई नाम ही नही है।

राजनीतिक दृष्टि से अवलोकित करने पर इन तीनो प्रकारो के धर्मों मे दोष पाये जाते है। तीसरा तो प्रत्यक्षत इतना दोषी है कि इसका प्रमाण देने के लिये रुकना समय का क्षयमात्र होगा। जो सामाजिक एकता को बिनष्ट करता है वह सर्वथा दोषी है। वे सब सस्थाएँ जो मनुष्य को अपने प्रति प्रतिशोधावस्था मे स्थापित करती है, गुणहीन हैं।

दूसरा उस सीमा तक अच्छा है जिस सीमा तक वह ईश्वरीय पूजा को विधानो के प्रेम से सम्मिलित करता है और देश को नागरिको की भक्ति का केन्द्र बनाकर उन्हें यह शिक्षा देता है कि राज्य की सेवा शासक देवता की सेवा है। यह ईश्वरवाद का एक प्रकार है जिसमें शासनाधिकारी के अतिरिक्त कोई प्रधान पादडी नही होता और दडाधिकारियों के अतिरिक्त कोई पुरोहित नही होता। देश के लिये मरना शहीद की मौत मरना समझा जाता है, विधानो का उल्लघन करना भ्रष्ट कार्य माना जाता है और किसी अपराधी मनुष्य को सार्वजनिक घृणा द्वारा दडित किया जाना उसको देवताओ के कोप को समर्पण किया जाना माना जाता है—"इसे पतित होने दो।"

परन्तु यह प्रकार दोषी भी है क्योकि विभ्रम और मिथ्यात्व पर आधारित होने के कारण यह मनुष्यो को वचित करता है, उन्हे अन्ध-विश्वासी और असत्यधर्मी बना देता है, और ईश्वर की सत्य पूजा को निरर्थक अनुष्ठानो द्वारा अस्पष्ट कर देता है। अपरच यह तब दोषी होता है जब अपवर्जी और अत्याचारी होकर यह राष्ट्र को क्रूर और असहिष्णु बना देता है, ताकि राष्ट्र वध और सहार के अतिरिक्त किसी और वस्तु का प्यासा नही रहता, और यह मानने लग जाता है कि प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो इसके देवताओ को स्वीकार नही करता, मारने से यह पवित्र कार्य सपादित कर रहा है। इस प्रकार यह राष्ट्र को अन्य समस्त राष्ट्रो के प्रति स्वाभाविक युद्ध-स्थिति मे सस्थापित कर देता है, जो राष्ट्र की अपनी सुरक्षा की दृष्टि से बहुत प्रतिकूल होती है।

इस प्रकार केवल मनुष्य का धर्म अथवा ईसाइयत बचता है, वर्तमान की ईसाइयत नही, परन्तु इजील की ईसाइयत जो वर्तमान के धर्म से बिलकुल विभिन्न है। इस पावन, उन्नत और पवित्र धर्म से मनुष्य जो एक ही ईश्वर के बच्चे है, एक दूसरे को अपने भाई मानते हैं और जो सामाजिक बध उन्हे सयुक्त करता है, मृत्यु पर भी लुप्त नही होता।

परन्तु यह धर्म राजनीतिक निकाय से कोई विशिष्ट सबध न रखने के कारण विधानो को केवल उस बल के सहारे छोड़ देता है जो वे स्वत प्राप्त करते हैं, अन्य कोई बल उनमें युक्त नही होता, और इस कारण उस विशिष्ट समाज का एक महान् बध प्रभावहीन रह जाता है। इससे भी अधिक, नागरिको के हृदय को राज्य से अनुरक्त करने की अपेक्षा यह उन्हे राज्य से और सब सासारिक वस्तुओ से विरक्त कर देता है, सामाजिक सत्व के इससे अधिक विपरीत वस्तु का मुझे ज्ञान नही है।

कहा जाता है कि वास्तविक ईसाइयो का राष्ट्र सपूर्णतम चिन्त्य समाज का निर्माता होगा । इस कल्पना में मुझे केवल एक महान् कठिनाई लगती है, वह यह कि वास्तविक ईसाइयो का समाज मनुष्यो का समाज न रह पायगा ।

मै तो यहाँ तक कहूँगा कि यह कल्पित समाज सपूर्ण होते हुए भी न प्रबलतम होगा और न स्थायीतम । सपूर्ण होने के कारण ही इसमें सलाग का अभाव होगा , वास्तव में इसकी पूर्णता ही इसका विनाशकारी दोष होगा ।

प्रत्येक मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करेगा; लोग विधानों का अनुसरण करेंगे, प्रमुख मनुष्य न्यायसगत और अनतिगामी होगे, दडाधिकारी ईमानदार और अशोधनीय होगे, सैनिक मृत्यु का तिरस्कार करेंगे, अभिमान और विलासिता का अभाव होगा । यह सब बहुत उत्तम है, परन्तु जरा आगे देखिये ।

ईसाइयत सपूर्णतया एक आध्यात्मिक धर्म है जिसका समस्त सबध स्वर्गीय वस्तुओ से है, ईसाइयो का देश इस ससार का नही होता । यह सत्य है कि ईसाई अपना कर्तव्य पालन करता है, परन्तु अपने प्रयत्लो की सफलता अथवा विफलता के प्रति गभीर उदासीनता के साथ । जब तक वह कोई निन्दनीय कार्य नही करता, उसे इसकी कतई चिन्ता नही कि इस ममार में भलाई है अथवा बुराई । यदि राज्य समृद्ध होता है तो सार्वजनिक मोद का उपभोग करने का वह साहस नही कर सकता है, अपने देश की प्रसिद्धि में गर्वित होने मे वह डरता है, यदि राज्य अवनत हो जाय तो भी वह ईश्वर के हस्त का, जो उसके लोगो पर कठोरता से पडता है, गुणगान ही करता है ।

समाज को शान्तिपूर्ण बनाने और संध्वनि सस्थापित करने के लिये, यह आवश्यक होता है कि बिना अपवाद सब नागरिक समानरूप में उत्तम ईसाई हो । परन्तु यदि दुर्भाग्य से एक भी मनुष्य आकाक्षी हो जाय, पाखडी हो जाय, उदाहरणार्थ कैंटीलीन या क्रौमवेल समान हो जाय, तो निश्चित रूप से ऐसा मनुष्य अपने धार्मिक देश-वासियो की अपेक्षा अधिक प्रलाभ प्राप्त कर लेगा । ईसाई दयालुता मनुष्यो को शीघ्रतया अपने पडोसियो के अहित चितन की आज्ञा नही देती । ज्योही चतुराई से कोई मनुष्य उनको वचित करने और स्वत सार्वजनिक प्रभुत्व का भाग अवाप्त करने की कला प्राप्त कर लेता है, वह गौरव से विनियोजित हो जाता है, ईश्वर की यह इच्छा हो जाती है कि वह आदरित हो जाय, शीघ्र ही वह स्वामित्व धारण करने लग जाता है, ईश्वर की इच्छा होती है कि उसका आज्ञानुपालन हो । इस शक्ति का निक्षेपक यदि उसका दुरुपयोग करने लगे, तो यह एक ऐसी छड़ी मानी जाती है जिसके द्वारा ईश्वर

अपने बच्चों को दण्डित कर रहा है। बलाधिकारी को निष्कासित करने में लोगों को सशय होगा ; ऐसा करने के लिये सार्वजनिक शान्ति को क्षुब्ध करना, हिंसा का प्रयोग करना और रक्त का बहाना आवश्यक होगा। यह सब कुछ ईसाई विनय के अनुरूप नहीं; और अत मे क्या यह बहुत महत्व की बात है कि लोग इन सतापो के दर्रे मे स्वतंत्र है अथवा दास ? महत्त्वपूर्ण वस्तु तो स्वर्ग को प्राप्त करना है, और त्याग-भावना उस उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन है।

कोई विदेशी युद्ध आरभ हो जाता है। नागरिक बिना अनुकूलता के युद्ध में भाग लेने को प्रस्थान करते है, कोई प्लवन की नही सोचता, वे अपना कर्तव्य पालन करते है, परन्तु विजय की तीव्र अभिलाषा के बिना, वे विजय करने की अपेक्षा मरना अधिक अच्छी तरह से जानते है। यह कौन-सी महत्त्व की बात है कि वे विजेता है अथवा विजित ? क्या परमेश्वर अधिक अच्छी तरह नही जानता कि उनके लिये क्या आवश्यक है ? सोचिये तो सही कि एक साहसी, तीव्र और उत्साही शत्रु इस निस्पृह उदासीनता से क्या प्रलाभ न उठायेगा। इनके विरुद्ध ऐसे अभिजात राष्ट्रो को स्थिर कीजिये जो कीर्ति और देश के उग्र प्रेम से उत्तेजित हुए हैं, ईसाई गणराज्य को स्पार्टा अथवा रोम के विरोध में कल्पित कीजिये। अपने आपको एकत्रित करने का समय प्राप्त करने के पूर्व ही धार्मिक ईसाई पराजित, दलित और विनष्ट हो जायेंगे, अथवा उनकी सुरक्षा केवल शत्रुओ की उनके प्रति घृणा के परिणामस्वरूप ही हो सकेगी। मेरे विचार मे फेबियस के सैनिको की शपथ बहुत उत्कृष्ट थी, वे मरने अथवा विजय प्राप्त करने की शपथ नही लेते थे, वे विजितो के रूप मे वापिस न होने की शपथ लेते थे और अपनी शपथ को निबाहते थे। ईसाई कभी ऐसा नही कर सकते, उनकी तो यह धारणा होती है कि ऐसी शपथ लेकर वे ईश्वर के क्रोध को आकर्षित कर रहे है।

परन्तु मै ईसाई गणराज्य की बात करके गलती करता हूँ, यह दोनो शब्द परस्पर में अपवर्जी है। ईसाइयत केवल सेवाभाव और अधीनता का उपदेश करती है। अत्याचार के लिये यह सत्व इतना अनुकूल है कि यह हो नही सकता कि अत्याचार सदा इसका लाभ न उठाये। वास्तविक ईसाई दास बनने के योग्य है, उन्हे इसका ज्ञान है और इससे उत्तेजित नही होते, उनकी दृष्टि मे इस क्षीण जीवन का क्षुद्रतम महत्त्व है।

कहा जाता है कि ईसाई सेनाएँ बहुत श्रेष्ठ है। मै इसे अस्वीकार करता हूँ। कोई मुझे श्रेष्ठ ईसाई सेना दिखाये। जहाँ तक मेरी बात है मै तो किसी ईसाई सेना का अस्तित्व भी नही जानता। लोग मेरे समक्ष धर्मयुद्धो का प्रोद्धरण करेंगे। धर्मयोद्धाओ

के साहस पर शंका किये बिना, मैं यह कहूँगा कि ईसाई होने की अपेक्षा वे पुरोहित के सैनिक थे, धार्मिक सस्था के नागरिक थे; उन्होंने अपने आध्यात्मिक देश के लिये युद्ध किया, जिसे धार्मिक सस्था ने किसी प्रकार सासारिक बना दिया था। वास्तव में यह तो मूर्तिपूजा की ओर प्रवृत्त करता है, क्योंकि इजील ने कोई राष्ट्रीय धर्म स्थापित नहीं किया, इसलिये ईसाइयो मे धार्मिक युद्ध असभव है।

मूर्तिपूजक सम्राटो के अधीन ईसाई सैनिक अवश्य बहादुर थे, सब ईसाई लेखक इसकी पुष्टि करते हैं और मैं भी इसे मानता हूँ। मूर्तिपूजक सेनाओ के विरुद्ध सन्मान की स्पर्द्धा थी। जब सम्राट् ईसाई हो गये तो यह स्पर्द्धा निर्वाहित न रही; और जब टिकटी ने चील को निष्कासित कर दिया, तो समस्त रोमी साहस विलुप्त हो गया।

परन्तु राजनीतिक विचारों को उत्सावित करते हुए हमें अधिकार के विषय पर वापिस जाना चाहिये और इस महत्त्वपूर्ण विषय के सिद्धान्त का निरूपण करना चाहिये। मैं पहले भी कह चुका हूँ कि जो अधिकार सामाजिक पाषण द्वारा सार्वभौम सत्ताधिकारी को अपनी प्रजा पर प्राप्त होते है वे सार्वजनिक उपयोगिता की सीमाओ के परे नही होते। उस दशा को छोडकर जब प्रजा का मत समाज के लिये महत्त्वपूर्ण होता है, प्रजा सार्व-भौमिक सत्ताधिकारी को अपने मत से अवगत कराने को बाध्य नही होती।[१] परन्तु राज्य के लिये यह बहुत आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक का एक धर्म हो जिससे वह अपनी कर्त्तव्य पूर्ति मे सतोष प्राप्त कर सके, परन्तु अतिरिक्त उस परिस्थिति के जहाँ उस धर्म के सिद्धात उस शील अथवा उन कर्तव्यो पर प्रभाव डालते हो जो इस धर्म का अनुयायी अन्यो के प्रति पालन करने को बाध्य होता है, इस धर्म के सिद्धात न राज्य से और न सदस्यो से सबध रखते है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार

१. मार्क्विस दार्गासो कहता है कि समधिराज्य में प्रत्येक व्यक्ति वह करने को जिससे वह अन्य को क्षति नहीं पहुँचाता संपूर्णतया स्वतंत्र होता है।" यह अपरिवर्तनीय मर्यादा होती है, इसका निरूपण अधिक निश्चित रूप में नहीं किया जा सकता। इस पांडुलिपि से कहीं कहीं उद्धरण लेने के मोह से मैं अपने आपको निवर्तित नहीं कर सका हूँ, हालाँकि इस पांडुलिपि का लोगों को ज्ञान नहीं है; यह मैंने इसलिये किया है कि एक प्रसिद्ध और सम्माननीय मनुष्य की स्मृति को आदरित किया जा सके जिसने पदाधिकारी होते हुए भी एक सत्य नागरिक के हृदय को संरक्षित रखा और निज शासन के प्रति न्याय और स्वस्थ मतों को संभृत किया।

मत धारण कर सकता है, और सार्वभौमिक सत्ता का यह व्यापार नही होता कि वह उसके मत को जाने। क्योंकि उसका अधिकार-क्षेत्र अन्य आगामी ससार में न होने के कारण, उसकी प्रजा का आगामी जीवन मे जो कुछ भी प्रारब्ध हो, उससे सबधित नहीं होता, जब तक कि वे इस जीवन मे उत्तम नागरिक रहे हो।

परन्तु एक विशुद्ध सामाजिक धार्मिक विश्वास होता है जिसके पदो का निरूपण सार्वभौमिक सत्ताधिकारी का कर्तव्य होता है, ये पद धार्मिक अनुष्ठानो के रूप में नही होते, परन्तु ससर्गिता के सत्वो के रूप मे होते है, जिनके बिना किसी का उत्तम नागरिक और सहृदय प्रजा बनना असभव होता है।[1] किसी व्यक्ति को उन पदो में विश्वास करने को बाध्य करने की शक्ति न रखते हुए भी सार्वभौमिक सत्ताधिकारी को यह अधिकार होता है कि जो इन पदो मे विश्वास नही करता उसे राज्य से निष्कासित कर दे, वह निष्कासित अधर्मी होने के कारण नही किया जाता, परन्तु अससर्गी होने के कारण किया जाता है, जो विधान और न्याय को सद्भावना से प्रेम करने और आवश्यकता होने पर कर्तव्य के प्रति अपने जीवन की बलि करने को असमर्थ है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति, इन पदो को सार्वजनिक स्वीकृति देने के अनतर, एक अविश्वासी के समान आचरण करे, तो उसे मृत्युदंड से दडित किया जाना चाहिये, उसने महानतम अपराध किया है, क्योंकि विधानो के समक्ष झूठ बोला है।

सामाजिक धर्म के सिद्धात सरल और सख्या मे न्यून होने चाहिये, उन्हे व्याख्या और विवेचना के बिना सुतथ्यता से उल्लिखित किया जाना चाहिये। शक्तिशाली, बुद्धिमान, उपकारी, भविष्यज्ञाता और दानशील परमात्मा का अस्तित्व, भविष्यक जीवन, न्यायपरायणो का हर्ष, दुष्टो का दड, सामाजिक पावन और विधानो की पवित्रता ये अनुलोम सिद्धात है। जहाँ तक विलोम सिद्धातो का प्रश्न है, मै उन्हे केवल एक तक सीमित करता हूँ, और वह है असहिष्णुता। जिन धर्मों को हमने अपवर्जित किया है, यह उनका गुण है।

१. कैटलीन का अभिवचन करते हुए, सीजर ने आत्मा के मरण के सिद्धांत को संस्थापित करने का प्रयत्न किया। कैठो और सिसरो ने उसका खंडन करने के लिये दार्शनिक विवेचन में समय क्षय नहीं किया; वे केवल यह प्रदर्शित करने से ही सतुष्ट हुए कि सीजर की युक्ति एक बुरे नागरिक की युक्ति है और जो सिद्धान्त उसने स्थापित किया है वह राज्य के लिये हानिकारक होगा। वास्तव में रोम की शिष्ट सभा में जिसका निर्णय करना था वह यही प्रश्न था, कोई आध्यात्मिक प्रश्न नहीं।

वे जो सामाजिक असहिष्णुता और आध्यात्मिक असहिष्णुता में भेद करते हैं, मेरे मत से गलती पर हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की असहिष्णुता अविभेद्य है। जिन लोगों को हम दुष्कर्मी समझते हैं उनके साथ शान्ति से रहना असंभव है; उन्हें प्रेम करने का अर्थ यह है कि ईश्वर से जो उन्हें दंडित करता है घृणा की जाय; ऐसे लोगों को सुधारना अथवा दंडित करना सर्वथा अनिवार्य है। जहाँ आध्यात्मिक असहिष्णुता अनुमत होती है, इसका सामाजिक जीवन पर कुछ प्रभाव पडे बिना नही रह सकता,[1] और ज्योंही यह प्रभाव पडता है सार्वभौमिक सत्ता लौकिक कार्यों में भी नहीं रह जाती, उस समय पुरोहित वास्तविक स्वामी बन जाते हैं, राजा उनके पदाधिकारी मात्र रह जाते हैं।

क्योकि कोई अपवर्जी राष्ट्रीय धर्म न है और न हो सकता है, इसलिए हमें उन सबके प्रति सहिष्णु होना चाहिये जो अन्यो के प्रति सहिष्णु है, जब तक कि उनके सिद्धातों में नागरिको के कर्त्तव्यो के विपरीत कुछ निहित न हो। परन्तु जो कोई भी यह कहने का साहस करे कि धार्मिक सस्था के बाहर मुक्ति नही, उसे राज्य से निष्कासित किया जाना चाहिये, जब तक कि राज्य ही धार्मिक सस्था न बन जाय और शासनाधिकारी ही मुख्य पादडी न बन जाय। यह सिद्धात केवल धर्मराजतत्रात्मक शासन में ही उपयुक्त होता है, अन्य किसी शासन में यह अपकारक है। जिस कारण के बल पर हैनरी-४ ने रोमीय धर्म को अगीकार किया वह कारण किसी सम्माननीय मनुष्य के लिये इसे परित्यजन करने का हेतु होना चाहिये था, विशेषकर ऐसे राजक के लिये जो तर्क की क्षमता रखता हो।

१ उदाहरणार्थ, सामाजिक बंध होने के कारण विवाह के सामाजिक परिणाम होते हैं जिनके बिना समाज का निर्वाहित होना तक असंभव होता है। आप मानिये कि एक पादड़ी विवाह क्रिया को प्रतिपादित करने का एकमेव अधिकार प्राप्त करने में सफल हो जाय, यह अधिकार उसको अनिवार्य रूप में प्रत्येक असहिष्णु धर्म से ही प्राप्त हो सकता है, तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि धर्मसंस्था के प्रभुत्व को दृढ़ करने का अवसर प्राप्त करते हुए यह शासनाधिकारी के प्रभुत्व को प्रभाव हीन कर देगा, क्योंकि शासनाधिकारी किसी ऐसी प्रजा को प्राप्त न कर सकेगा जिसे वह पादड़ी उसे प्रदान करने को मोदित न हो। इस आधार पर कि लोग किसी विशिष्ट सिद्धान्त में विश्वास

रखते हैं अथवा नहीं, कि किसी सूत्रसमूह को स्वीकार करते हैं अथवा नहीं, और किसी धर्म में अधिक भक्ति रखते हैं अथवा न्यून, लोगों का विवाह सपन्न करने अथवा न करने का विकल्प प्राप्त होने के कारण, क्या यह स्पष्ट नहीं है कि केवल धर्मसंस्था ही चतुरता से आचरण करके, और सुदृढ़ रहकर दायों, पदों, नागरिकों और स्वतः राज्य को जो केवल विजातों द्वारा संघटित होकर निर्वाहित नहीं रह सकता, विनियोजित करने की अधिकारी बन जायगी ? परन्तु यह कहा जाता है कि मनुष्य दोषों के विरुद्ध अभ्यवाहन कर सकेंगे; वे आहूत करेंगे, प्रावेश प्रसारित करेंगे, और सांसारिक लाभों को अर्जित करेंगे। कितना दयनीय है। पादड़ी लोग चाहे उनमें, मैं साहस की नहीं कहता हूं परन्तु सुचेतना की, कितनी ही कमी क्यों न हो, ऐसा होने देंगे और अपना कार्य करते रहेंगे ; वे शान्तिपूर्वक अभ्यवाहन, स्थगन, प्रावेशन और प्रसन्न होने देंगे और अंत में स्वामी रहेंगे। मेरी मान्यता है कि एक अंश को परित्यक्त करने में कोई बलिदान नहीं होता जब कि व्यक्ति को संपूर्ण का प्रधारण प्राप्त करने की निश्चितता हो।

# परिच्छेद ९

## परिणाम

राजनीतिक अधिकारो के सत्य सिद्धान्तो को निरूपित करने और राज्य को अपने आधारो पर सस्थापित करने के प्रयत्नो के पश्चात् इसे केवल बाह्य सबधों में सुदृढ़ करने की आवश्यकता रहेगी । ऐसे बाह्य सबधो मे राष्ट्रो के विधान, व्यापार, युद्ध तथा विजय के अधिकार, सार्वजनिक अधिकार, सम्मैत्रियाँ, परक्रामण, और सधियाँ इत्यादि निहित होती है । परन्तु यह सब एक नवीन विषय से सबधित है जो मेरे सीमित क्षेत्र के लिये अति विस्तृत है, मुझे तो और अधिक सकुचित क्षेत्र में अपने आपको सीमित रखना चाहिये था ।